र ही म

डॉ० समर बहादुर सिंह

H
811.22
R 129 M

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

PRESENTED BY.

र ही म

लेखक
डॉ० समर बहादुर सिंह
अनुवादक
सुमंगल प्रकाश

PRESENTED BY.

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
नई दिल्ली

७३

दिसम्बर १९६७ (पौष १८८९)

© डॉ० समर बहादुर मित्र

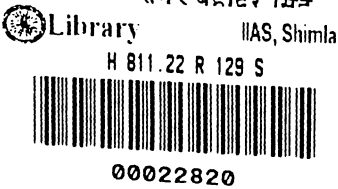

रु० १.७५

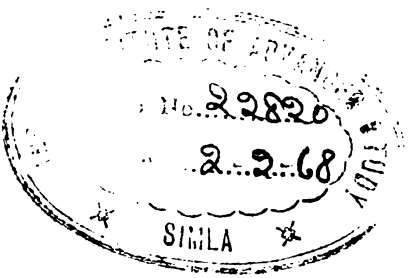

H
811.22
R129S

सचिव, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली–१३ द्वारा प्रकाशित ।
मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वींस रोड, दिल्ली–६

प्रस्तावना

आदिकाल से ही इस देश में, जीवन के हर क्षेत्र में, असाधारण व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है। हमारा इतिहास ऐसे महान लोगों के नामों से भरा पड़ा है, जिनकी कला, साहित्य, राजनीति, विज्ञान और अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण देन रही है। बहुत से ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिनके नाम से तो लोग परिचित हैं लेकिन जिनके जीवनवृत्त और कार्य के बारे में उनको बहुत कम ज्ञान है। कुछ ऐसे भी लोग हुए हैं, जिन्होंने असाधारण सफलता पाई है, लेकिन उनके विषय में लोगों को जानकारी नहीं है।

किसी देश का इतिहास, बहुत अंश तक, उसके नर-नारियों का इतिहास है। उन्होंने ही उसको गढ़ा, संवारा और उसका विकास किया। जन-साधारण के लिए यह आवश्यक है कि वह इन विभूतियों के बारे में कुछ जाने, ताकि वह यह समझ सकें कि देश का विकास किन चरणों से होकर गुजरा है।

कई देशों में इसी उद्देश्य से जीवनियों का कोश प्रकाशित किया गया है। यह खेद की बात है कि हमारे यहां ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस जीवन-चरित माला का उद्देश्य विद्वत्तापूर्ण और सर्वांगीण पुस्तक प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि साधारण पाठक के लिए सरल, सुबोध और रोचक रूप में, देश के महान स्त्री-पुरुषों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करना है। अलग-अलग भागों में राष्ट्रीय जीवन चरित्रों का एक उपयोगी पुस्तककोश बनाना हमारा अभिप्राय है।

इस पुस्तक के नायक अब्दुर्रहीम खानखाना हैं, जिन्हें ज्यादा लोग 'रहीम' के नाम से ही जानते हैं। भारतीय इतिहास में उनका एक असा-

धारण स्थान है। अकबर के दरबार के नव-रत्नों में तो उनका विशिष्ट स्थान था ही, युद्धकला और कूटनीति में वह इतने प्रवीण थे कि मुगल साम्राज्य के एक स्तम्भ ही बन गए थे। दुखियों और जरूरतमंदों को उनके पास शरण मिलती थी, और कवियों और कलाकारों के परम आश्रयदाता थे। स्वयं तो वह बहुत बड़े कवि थे ही। सबसे बड़ी बात यह कि वह पक्के भारतीय थे।

इतिहास में रहीम का नाम इसलिए नहीं अमर हुआ कि वह एक जबर्दस्त कूटनीतिज्ञ और बहुत बड़े सेनापति थे। उनके जीवन के इस पहलू को लोग कब के भूल चुके हैं। वस्तुतः उन को अमर किया है हीरा-माणिक्य जैसी उनकी छोटी-छोटी कविताओं ने, जो हिन्दी साहित्य की शोभा हैं। उनके हिन्दी भाषाभाषी लाखों-करोड़ों देशवासियों के बीच उनकी याद उनकी इन कविताओं के कारण ही हमेशा ताजी है।

पर ऐसे असाधारण पुरुष के जीवन-चरित के नाम पर अभी तक लोगों के सामने कुछ छिटपुट किंवदन्तियों के सिवा शायद ही कुछ और था। राजनैतिक क्षेत्र के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र की भी उनकी विविध प्रकार की उपलब्धियों का शायद ही किसी इतिहास-लेखक ने सन्तुलित रूप में अध्ययन किया हो।

डॉ० समर बहादुर सिंह ने रहीम के जीवन पर यह पुस्तक साधारण पाठकों के लिए, प्राप्त मौलिक सामग्री के आधार पर, तैयार की है। इसमें उनके राजनैतिक और साहित्यिक दोनों ही पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। आशा है कि हिन्दू-मुसलिम संस्कृतियों के सच्चे समन्वय के प्रतीक इस अद्‌भुत पुरुष को जन-साधारण के और भी निकट लाने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

श्री एम० वी० देसाई का मैं आभार मानता हूं कि उन्होंने इसका इतने अच्छे ढंग से सम्पादन करने का कष्ट उठाया।

नई दिल्ली
१५ अगस्त, १९६७

बालकृष्ण केसकर

१

अपनी पैतृक परम्परा से रहीम तुर्कमान या तातार थे। काराकुम रेगिस्तान के छोर से लेकर पूरब में आमू, दरिया तक फैली हुई अरल और कास्पियन सागरों के बीच की घाटी ही तुर्कमन जाति का मूल निवास-स्थान था। यह जाति दो गिरोहों में बंट गई थी, जिनमें से एक अका-किलू कहलाता था, अर्थात् सफेद भेड़ों वाला गिरोह, और दूसरा कारा-किलू, यानी काली भेड़ों वाला गिरोह। भेड़ों के अपने झुंडों के साथ-साथ ये घुमक्कड़ खानाबदोश रेगिस्तान में इधर से उधर अपनी मौज में विचरते रहते थे और धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढ़ते चले आए थे। ईरान में सफवी राजघराने का सितारा बुलन्द होने के पहले तक कारा-किलू तुर्कमानों ने करीब-करीब पूरे ईरान पर अपना कब्ज़ा सा कर रखा था।

अब्दुर्रहीम के पिता बैरम खां खानखाना के अनुसार, उनके बापदादों का वंश काली भेड़ों वाले बहालू तुर्कमानों के अमीरे-आजम अली शुक्र बेग से शुरू हुआ था। ईरान के शाह इस्माइल सफवी के राज्य-काल में, बैरम खां के दादा बैराक बेग ईरान में अपनी जागीर से हाथ धो बैठे और वहां से जाकर बदखशां में बस गए जहां सुलतान महमूद मिर्जा ने उन्हें जागीर दे दी। बैराक के बेटे सईफ् खां की गजनी में मृत्यु हो गई, जिनके बेटे बैरम को रिश्ते की उसकी एक परदादी बाशा बेगम ने पाला-पोसा। सोलह साल की उम्र में बैरम बाबर की नौकरी में आ गए, जो तब काबुल के शासक थे।

शाहंशाह हुमायूं को सन् १५५५ में जब दिल्ली की अपनी गद्दी वापस मिली तब उन्होंने जो सबसे पहले काम किया वह यह कि अपनी एक नई शादी कर डाली, और साथ ही अपने सबसे ज्यादा स्वामिभक्त अमीर बैरम

खां की भी एक नई शादी करा दी, हालांकि उनकी उम्र तब साठ के करीब पहुंच रही थी। इन दोनों की ही ये बीवियां जमाल खां मेवाती की बेटियां थीं। इस शादी के बाद जल्द ही बैरम को छोटे से अकबर के अभिभावक के रूप में दिल्ली से लाहौर भेज दिया गया, जहां गद्दी के एक नकली दावेदार सिकन्दर सूर ने फिर से बगावत का झंडा खड़ा किया था। शाहजादा अकबर और उसके अभिभावक पंजाब में व्यस्त ही थे कि जनवरी सन् १५५६ में हुमायूं, जिनके बारे में यह कहा गया है कि वे जिन्दगी भर लड़-खड़ाते ही चले, मानों आखिरी बार लड़खड़ाए, और चल बसे। बैरम को जब यह खबर गुरदासपुर जिले के कलानौर में मिली, तो उन्होंने शाहजादा अकबर को गद्दी पर बिठा दिया। मगर मुगलों की स्थिति को नाजुक बना दिया अदाली के सेनापति हेमू ने, जो मुगलों को सिन्धु नदी के पार खदेड़ देने की नीयत से अफगानों की एक फौज लेकर पश्चिम की ओर तेजी से बढ़ा चला आ रहा था। बैरम को छोड़ बाकी सभी आशा छोड़ बैठे थे। फिर भी, सावधानी बरतने के लिए उन्होंने अपनी गर्भवती मेवाती बीवी और परिवार के और लोगों को लाहौर भेज दिया, और शाही खीमे को उठा, दिल्ली के लिए कूच कर दिया।

पानीपत की दूसरी लड़ाई लड़ी गई, और फतह भी हासिल हुई, पर सिकन्दर अपनी कारिस्तानियों से फिर भी बाज नहीं आया। नए शाह-शाह और उनके 'वकील' एक बार फिर पंजाब की ओर बढ़े। सिकन्दर के खिलाफ उनका यह धावा जारी ही था, कि बैरम खां को खबर मिली, कि बृहस्पतिवार, १७ दिसम्बर, सन् १५५६ को लाहौर में उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। शुभ मुहूर्त्त में पैदा हुआ यह लड़का बैरम का एकमात्र पुत्र और उत्तराधिकारी अब्दुर्रहीम ही था। पिता ने इस अवसर पर बहुत बड़ी दावत दी और खब खुशियां मनाईं।

सिकन्दर सूर ने आखिर हार मान ली। चार वर्ष तक (१५५६-१५६०) बैरम बालक अकबर के पालन-पोषण में लगे रहे। उन्होंने उसके लिए एक ऐसे देश में, धीरे-धीरे गढ़ कर, एक राज्य का निर्माण कर डाला

जिसमें पहले मुगलों का अपना कहलाने वाला मुश्किल से जमीन का कोई टुकड़ा रहा हो। नाबालिग शाहंशाह अकबर के संरक्षक-शासक के रूप में बैरम ने क्या-क्या किया, मुगल साम्राज्य के प्रति उनकी क्या सेवाएं रहीं, अकबर ने उनके प्रति कितना न्याय किया और कितना अन्याय—इन सब बातों के लिए स्वभावतः उनके बेटे अब्दुर्रहीम की जीवनी में स्थान नहीं हो सकता।

बैरम ने खुदा, और पृथ्वी पर उसी के प्रतिबिम्ब-स्वरूप, शाहंशाह अकबर की मर्जी पर अपने को छोड़ दिया, और अपना काम पूरा मान अलग हट गए। जाते-जाते उन्होंने नए—बने शाहंशाह से जो आखिरी बख्शीश मांगी, वह थी हज के लिए जाने की इजाजत। अकबर अपने लड़कपन को भूले नहीं थे जबकि बैरम खां ने उनके चचा की तरह उनकी परवरिश की थी। उनके घर के वह पुराने वफादार थे। इसलिए उन्होंने हज की उनकी यात्रा में उन्हें हर तरह की और भरपूर मदद की। अपने परिवार और अपने छोटे बच्चे के साथ बैरम खां गुजरात के सुप्रसिद्ध नगर पाटन पहुंचे, जहां अफगान सरदार मूसा खां फौलादी ने उनकी बड़ी आवभगत की।

पाटन में बैरम हज के लिए जानेवाले यात्री की भांति फकीरों का-सा शांतिपूर्ण जीवन बिता रहे थे। पर उस दौरान बराबर ही एक पठान पुश्तैनी दुश्मनी को याद कर उनसे बदला लेने के मनसूबे बांध रहा था। ३१ जनवरी सन् १५६१ को जब बैरम खां विख्यात सहस्रलिंग ताल के लिए जाते हुए नाव से उतरे, मुबारक लोहानी नाम के उस पठान ने, जिसका बाप बैरम के सेनापतित्व में लड़ी जानेवाली मछीवाड़ा की लड़ाई में मुगल फौजों द्वारा सन् १५५५ में मार डाला गया था, छुरा भोंक कर उनका वध कर डाला। इस हत्या का कारण बहुत करके खून के बदले खून की प्रतिहिंसात्मक भावना ही रहा होगा, पर असंभव नहीं कि इसके पीछे खून के प्यासे अफगानों का कोई षड्यंत्र ही रहा हो।

बैरम की हत्या ने पाटन नगर के गुण्डों के लिए एक संकेत का काम

किया। वे उनके अरक्षित खीमे पर टूट पड़े और उसे तहसनहस करके छोड़ा। उनके घर के लोगों की इज्जत भी लूटी गई। पर बैरम के कुछ वफादार लोगों ने रहीम और उनकी मां को उन आततायी अफगानों के पंजों से छुड़ा लिया और किसी तरह लड़ते-जूझते उन्हें लिए अहमदाबाद जा पहुंचे। चार महीने वे लोग वहीं रहे, और फिर आगरा चले गए। शाहंशाह के बुलावे पर अब्दुर्रहीम सन् १५६१ में शाही दरबार में हाजिर हुए। उनसे जले-भुने दरबारियों ने उनके खिलाफ शाहंशाह के कान भरे, लेकिन उन्होंने उसके साथ अपने लड़के जैसा स्नेहपूर्ण बर्ताव किया, और उस बालक के मस्तक की रेखाओं में बड़प्पन के चिन्ह देख, उसे अपनी शाही हिफाजत में ले लिया। कुछ ही समय बाद अब्दुर्रहीम को मिर्जा खां की उपाधि से विभूषित किया गया।

बहादुरी, समझदारी, सहृदयता, साहित्य प्रेम और राजनैतिक विचक्षणता तो अब्दुर्रहीम को अपने पिता से विरासत में ही मिली थीं। तुर्कमानों की सहज अस्थिरता और ईरानियों की सांस्कृतिकता के साथ-साथ उनकी नसों में दो तरह के और खून दौड़ रहे थे—मेवों का जोशीला गरम खून, और हिन्दुस्तान के पुश्तैनी शासक राजपूतों का वह ओजस्वी रक्त जो इस्लाम मत-परिवर्तन के बावजूद उनकी धमनियों में युगों से बहता आया था। लड़कपन में भी रहीम के अन्दर शाही वंश-परम्परा के गौरव और शाही दरबारों में बरते जानेवाले शिष्टाचार के लक्षण दिखाई देने लग गए थे। मजहब के मामले में वह अपने पिता की ओर से शिया थे, और मां की ओर से सुन्नी। पर न वह कट्टर शिया ही थे, और न कट्टर सुन्नी ही।

बौद्धिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक दृष्टि से अब्दुर्रहीम का विकास ठीक अकबर के शागिर्द के रूप में हुआ। शाहंशाह का दरबार ही उनकी पाठशाला थी। उनके लड़कपन की इस पाठशाला की जिन्दगी सख्त थी, और कड़ी पाबन्दियों के बीच ही उसकी यह शिक्षा-दीक्षा हुई। शाही छावनियों के शोरगुल, और कुचक्रों और कूटनीति की भूल-भुलैयों के बीच भी

अब्दुर्रहीम, अपने मालिक ही की तरह, जिन्दगी भर एक सच्चे जिज्ञासु रहे, और ज्ञान की उनकी यह पिपासा अन्त तक बनी रही। पर अकबर की तरह वह कोई अक्षरज्ञान-शून्य साहित्यिक महारथी नहीं थे। कानों के साथ-साथ उनकी आंखें भी उनकी शिक्षा का साधन थीं। उनके अक्षर-ज्ञान के बारे में कभी कोई सन्देह नहीं प्रकट किया गया है।

अब्दुर्रहीम की प्रारम्भिक शिक्षा के बारे में फारसी के प्रायः समकालीन इतिहास से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। 'मआसिर-ए-रहीमी के' अनुसार, अंदीजां (तुर्किस्तान) के मुल्ला मुहम्मद अमीन को, जो अपने वक्त के एक मशहूर आलिम थे, शाहंशाह ने अब्दुर्रहीम का शिक्षक नियुक्त किया था। शाहंशाह से लेकर नीचे तक, हिन्दुस्तान में पैदा होने वाला करीब-करीब हर तुर्क हिन्दुस्तानी समझता था, और शाही दरबार को छोड़, बातचीत में उसी का व्यवहार करता था। किन्तु शाही घराने के लोगों और हिन्दुस्तान से बाहर की पैदाइश के ऊंचे मुस्लिम घरानों के बच्चों के लिए तुर्की का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। इसकी जरूरत 'विलायत' यानी मध्य एशिया के अपने निवासस्थान के साथ अपना सम्पर्क बनाए रखने के लिए थी। बैरम ने तुर्की में काव्य-रचना की थी और अब्दुर्रहीम ने भी अपनी जिन्दगी के पिछले हिस्से में तुर्की में कविता लिखी। अब्दुर्रहीम उन बहुत ही थोड़े से लोगों में थे जो फारसी और तुर्की दोनों के ज्ञाता थे, और अकबर ने जब 'तुजुक-ए-बाबरी' का तुर्की से फारसी में तरजुमा कराना चाहा तो उस जमाने के बाकी सभी आलिमों को छोड़ यह काम उन्हीं के सुपुर्द किया गया।

अब्दुर्रहीम कई भाषाएं और प्रादेशिक बोलियां अच्छी तरह जानते थे, और विद्योपार्जन के लिए उनके दिल में बड़ा उत्साह था। काव्य में भी उनकी विशेष रूचि थी, और हिन्दुस्तान और हिन्दुओं के साथ उनका विशेष लगाव था। इस बात का पता नहीं लग सका है कि अब्दुर्रहीम ने संस्कृत और हिन्दी का ज्ञान किससे प्राप्त किया, पर इसमें सन्देह नहीं कि अकबर के दरबार का साहित्यिक वातावरण इन भारतीय भाषाओं को

सीखने की दृष्टि से अधिक अनुकूल था। सन् १५६४ में ही, 'अकबरशाही-शृंगार-दर्पण' में उसके लेखक द्वारा 'चकता' (चगताई) वंशीय अकबर और उनके पिता तथा पितामह की बड़ी प्रशंसा की गई। ग्यारहवीं शताब्दी में अल-बरूनी ने संस्कृत सीखनी चाही थी तब ब्राह्मणों ने किसी 'म्लेच्छ' को 'देवभाषा' सिखाने से इन्कार कर दिया था। पर वह जमाना कब का गुजर चुका था। अकबर के चुम्बक जैसे व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर कोई दक्षिण भारतीय पण्डित और मुल्ला बदायवीं एक साथ मिलकर अथर्व वेद के फारसी अनुवाद में लगे हुए थे। हिन्दू विद्वानों में से गंग कवि अब्दुर्रहीम के सबसे अधिक निकट समझे जाते थे। हो सकता है कि अब्दुर्रहीम ने गंग से ही संस्कृत पढ़ी हो और हिन्दी काव्य की शिक्षा हृदय में प्रज्वलित हो उठी हो।

पण्डितों और हिन्दी कवियों के साथ के अपने दीर्घकालीन सम्पर्क के फलस्वरूप अब्दुर्रहीम को हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हुआ था। अल-बरूनी और अबुल फजल के बाद अब्दुर्रहीम उन मुस्लिम आलिमों में तीसरे होने का दावा कर सकते हैं जिन्होंने पराजित मानी जाने वाली किसी जाति के साहित्य का, उत्साह और सहानुभूति के साथ, अध्ययन किया था। उनकी लिखी छिटपुट हिन्दी कविताएं इस बात की साक्षी हैं।

अब्दुर्रहीम को अकबर ने अपने बेटे, या कहा जाय चचेरे भाई की तरह रखा, और उन्हें 'फरजन्द' (बेटे) कहकर सम्मानित किया। एक ही और लड़के को अकबर ने अपने एक आदर्श अमीर के रूप में तैयार किया था, और वह था कुंवर मानसिंह, जो राजनैतिक विचक्षणता और लड़ाई के हुनर में अब्दुर्रहीम की बराबरी का था। अकबर ने अब्दुर्रहीम से जो आशाएं की थीं वह पूरी हुईं। बाद को उन्होंने शाहजादा सलीम को अपनी इस राजनैतिक और बौद्धिक सन्तान के ही सुपुर्द कर दिया था और मिर्जा खां को ही शाहजादे का 'अतालीक' (अभिभावक-शिक्षक) नियुक्त किया था।

शाहंशाह अब्दुर्रहीम को हमेशा अपने हुजूर में रखते थे। दरबार में उन्हें कितनी ही तरह के महत्वपूर्ण काम दिए जाते थे जो आम तौर पर किसी नौसिखुए को नहीं दिए जाते। पर अब्दुर्रहीम योग्यता की इन कसौटियों पर बराबर ही खरे उतरते रहे और अपने बुजुर्गों को ताज्जुब में डालते रहे। स्वभावतः इससे उन अमीरों की नाखुशी बढ़ती गई जो बैरम खां के दुश्मन थे। उन पर शाहंशाह की बढ़ती हुई कृपा से वे चौकन्ने हो गए। इसलिए, अब्दुर्रहीम के बालिग होने पर, अकबर ने उनकी शादी अपने जिगरी दोस्त और एक प्रभावशाली अमीर मिर्जा अजीज की बहन मह बानू बेगम से करा दी। इस तरह, अब्दुर्रहीम को अपनी दरबारी जिन्दगी के प्रारम्भ में ही, शक्तिशाली अतका खैलों के साथ पारिवारिक सम्पर्क स्थापित करने और उनका पृष्ठपोषण पाने में सफलता मिल गई। मह बानू अब्दुर्रहीम की खास बेगम बनी रहीं।

मिर्जा खां को युद्धभूमि का पहला अनुभव सितम्बर सन् १५७३ में अहमदाबाद में हुआ। उस वक्त वह गुजरात के बागी सरदारों की बगावत को कुचल देने के लिए वहां दुबारा भेजी जाने वाली शाही फौजों के मध्य भाग के सेनापति थे। गुजरातियों ने, शाहंशाह की गैरहाजिरी से फायदा उठा कर, मुहम्मद हुसेन मिर्जा और इख्तियार-उल-मुल्क हबशी के नेतृत्व में जबर्दस्त बगावत की थी। उन्होंने राजधानी में मुगल सूबेदार खान-आजम के खिलाफ घेरा डाल रखा था। अकबर ने यह सुनते ही, अपने विश्वासपात्र साथियों को लेकर, जिनमें मिर्जा खां भी थे, कूच कर दिया था और बड़ी तेजी से रास्ता तय करके नौ दिन के अन्दर दुश्मन पर अचानक टूट पड़े थे। दुश्मन की तादाद कहीं ज्यादा थी, पर जीत अकबर की हुई। बागी सरदारों के पंजों से गुजरात को छुड़ा लिया गया। हालांकि यह जीत पूरी तरह से शाहंशाह की निर्भीकता और उनकी बहादुरी के कारण हुई थी, मगर मिर्जा खां को, सत्रह साल की ही कच्ची उम्र में, इस लड़ाई में सेना के मध्य भाग का सेनापतित्व सौंपा गया था, जोकि सबसे अधिक महत्वपूर्ण पद माना जाता था और जिसे सिर्फ सुल्तान-ए-लश्कर

(प्रधान सेनापति) ही संभालते थे। इससे उनके कुशल सेनापतित्व का खासा प्रमाण मिलता है।

सन् १५७६ में मिर्जा खां की और भी एक तरक्की हुई। गुजरात के सूबेदार खान-आजम के वापस बुला लिए जाने की वजह से वह जगह खाली हो गई थी। यह एक ऐसा पद था जिसे पाने के लिए सभी लालायित रहते थे। शाहंशाह ने इसी पद पर नौजवान मिर्जा खां को नियुक्त किया। उन्होंने उनका दरजा बढ़ा कर उन्हें चार हजारी मनसब दिया और कुछ अनुभवी अमीरों को उनके कठिन कार्य में सलाह-मशविरा देने और उनकी ओर से शासन-कार्य चलाने के लिए तैनात किया। वस्तुतः यह कोई उत्तर-दायित्व नहीं, एक पद मात्र था—उनका सम्मान बढ़ाने के लिए।

गुजरात में मिर्जा खां अधिक समय नहीं रहे। अकबर चाहते थे कि अपने समय के विख्यात सेनापतियों के साथ रह कर वह युद्ध-विज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त करें। शीघ्र ही इसका एक सुयोग हाथ लग गया। अगले साल राजा भगवानदास और कुंवर मानसिंह की अध्यक्षता में एक चुनी हुई फौजी टुकड़ी अदम्य राणा प्रताप को सबक देने के लिए भेजी गई। जून सन् १५७६ में हल्दी घाटी की लड़ाई में हार जाने के बाद राणा प्रताप ने दक्षिणी पर्वतमाला की कन्दराओं की शरण ली थी। मिर्जा खां गुजरात से वापस बुला लिए गए और इस फौजी टुकड़ी में उन्हें शामिल कर लिया गया। पर शाही फौजों को इस काम में आंशिक सफलता ही मिल सकी। राणा प्रताप को पराजित नहीं किया जा सका। मुगल सत्ता के खिलाफ उनका विरोध जारी ही रहा।

जब तक राणा प्रताप सम्पूर्ण आत्म-समर्पण न करते, या उनका विनाश न होता, भला अकबर को कैसे चैन मिल सकता था? जब उन्होंने राणा के कड़े रुख की बात सुनी, तो उन्होंने फिर अमीरों की एक टुकड़ी इस हिदायत के साथ रवाना की, कि राणा के इलाके को तहस-नहस कर दिया जाए और उन्हें पकड़ लिया जाए। मिर्जा खां भी इस टुकड़ी में शामिल थे। अप्रैल सन् १५७८ के शुरू में शाहबाज खां के सेनापतित्व में शाही

फौजों ने राणा के अभेद्य दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल दिया। घमासान युद्ध हुआ। राजपूत बड़ी बहादुरी से लड़े, पर ज्यादा वक्त तक वे टिके नहीं रह सके। शाही फौजों के सेनापतियों की कुशलता और उनके असीम साधनों के फलस्वरूप सारा विरोध ढह गया। भाग्य को ही अपने विपरीत देख राणा आधी-रात को अपने दुर्ग से निकल भागे और एक बार फिर पहाड़ियों की गहराइयों में जा छिपे।

अब्दुर्रहीम के प्रारंभिक जीवन में सन् १५८० एक महत्वपूर्ण वर्ष था। तब तक उनका कार्यक्षेत्र युद्धभूमि तक ही सीमित था और एक सैनिक के रूप में ही वह अपनी क्षमताओं का विकास कर पाए थे। किन्तु किसी सफल राजपुरुष के लिए प्रशासन-क्षमता अनिवार्य है, और इस क्षेत्र में अभी उन्हें सबक लेना बाकी ही था। चार साल पहले गुजरात की जो सूबेदारी उन्हें मिली थी वह निरा एक सम्मान-पद था; सूबे का शासन उनकी ओर से, और उनकी अनुपस्थिति में भी, उनके सहकारी द्वारा किया जाता था। वास्तविक प्रशासन का पद तो मिर्जा खां को सन् १५८० में मिला, जब उनकी नियुक्ति मीर-ए-अर्ज (अर्जियों के अफसर) के पद पर की गई जिसके लिए सभी लालायित रहते थे। अकबर के जमाने में मीर-ए-अर्ज का पद मुगल साम्राज्य के चार प्रधान पदों में से एक था। बाकी तीन थे—हरम की अफसरी, किसी दूर स्थित सूबे की सूबेदारी, और दिल्ली की सूबेदारी। यह चौथा पद नया-नया बनाया गया था। तब तक का तरीका यह था कि प्रमुख सरकारी मुलाजिमों में से एक-एक को हफ्ते के एक-एक दिन के लिए इस पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। पर यह तरीका सन्तोषजनक नहीं साबित हुआ। काम इतना बढ़ता जा रहा था कि एक ऐसे आदमी को, जिस पर कोई और बोझ न हो, स्थायी रूप से इस पद पर नियुक्त करना अनिवार्य हो गया। इसके अलावा, इन अफसरों में से अधिकांश बेईमान थे, और उनके बीच फैले भ्रष्टाचार और घूसखोरी से अकबर सावधान हो गए थे। वह एक ऐसे आदमी को इस पद पर चाहते थे जिसकी 'ईमानदारी असन्दिग्ध हो, जो ऊंचे कुल का हो और जिसकी

योग्यता का कोई-दूसरा मुकाबला न कर सके।'

लेकिन मीर-ए-अर्ज के पद पर भी मीर खां ज्यादा दिन नहीं रहे। शीघ्र ही उनकी नियुक्ति अजमेर में हुई जहां का मुगल सूबेदार दस्तम खां बागियों को कुचल कर शान्ति स्थापित करने में असमर्थ रहा और आखिर में अचलसिंह नाम के एक कछवाहा राजपूत के वार से आहत हो चल बसा। रणथम्भौर, जो कि उस सूबे का ही एक हिस्सा था, उन्हें जागीर के रूप में दिया गया।

मिर्जा खां अपने इस नए पद पर मुश्किल से कोई एक साल रह पाए थे कि उन्हें युवराज सलीम का अभिभावक बना दिया गया। शाहजादा अपनी उम्र का बारहवां साल पार कर चुका था, और शाहंशाह को फिक्र थी कि उस बेलगाम उच्छृंखल लड़के को एक ऐसे 'अतालीक' के संरक्षण में रख दें जो उसकी उस कच्ची उम्र में उसके लिए सही ढंग का शिक्षक बन सके। पहले उनका ध्यान कुतबुद्दीन खां की तरफ गया था, पर उसे उपद्रवग्रस्त गुजरात की सूबेदारी से हटाना संभव नहीं था। इस प्रकार सन् १५८२ में शाहंशाह ने मिर्जा खां को अजमेर से बुलवा भेजा और शाहजादे को उनके सुपुर्द कर दिया। इस पद से सम्मानित होने पर नौजवान मिर्जा खां ने इस खुशी में जो दावत दी थी उसमें शाहंशाह भी बड़ी खुशी से शामिल हुए थे। शाहजादे के अभिभावक के उत्तरदायित्व के अलावा मिर्जा खां को शाही अस्तबल के घोड़ों का भी अफसर 'अता-बेगी' बनाया गया।

शाहजादा सलीम के 'अतालीक' का पद मिर्जा खां के लिए काफी कठिन साबित हुआ, जिसके लिए उन्हें कहीं से शाबाशी तो मिल ही नहीं सकती थी। शाहजादा को किसी भी प्रकार के अनुशासन में रहना पसन्द नहीं था। यहां तक कि शाहंशाह को भी उसे दुलार करने का ही अख्तियार था, डांटने-डपटने का नहीं। सलीम हमीदा बानू का नाती और बिना बच्चे की सुलतान सलीमा बेगम का गोद-लिया बेटा था। इन दोनों बेगमों के लाड़ प्यार ने लड़के को इतना बिगाड़ रखा था कि

अपना सबक याद करने या अपने शिक्षकों की बात सुनने के लिए जो भी उससे कुछ कहता उसी को अपना सा मुंह लेकर रह जाना पड़ता। सलीम के पिछले 'अतालीक' अबुल फजल की उनके शिष्य के हाथों क्या-क्या दुर्गत हुई, इसकी कहानी इतिहासकार बदायवीं के लिखे पन्नों से जानी जा सकती है। अपने से अधिक विद्वान अबुल फजल की तुलना में मिर्जा खां मानव-प्रकृति को ज्यादा अच्छी तरह समझते थे, और उनमें कौशल भी अधिक था। इसलिए संभवतः उनकी तुलना में उन्हें कुछ अधिक सफलता मिली होगी। कई साल बाद, जब सलीम गद्दी पर बैठा और उसने अपना तुजुक (आत्मकथा) लिखना शुरू किया, तब उसमें मिर्जा खां के प्रति उसने कोई खास गुस्सा नहीं दिखाया, हालांकि उसमें मिर्जा अजीज और मानसिंह के साथ-साथ उन्हें भी 'सल्तनत के बूढ़े भेड़ियों' में शुमार किया गया है। जो भी हो, भाग्य ने मिर्जा खां के साथ दुश्मनी नहीं की, और शाहंशाह के सामने उनको कभी नीचा नहीं देखना पड़ा। सलीम के शाही संरक्षक का काम उन्होंने कोई साल भर ही किया होगा। गुजरात का सूबा तभी नया-नया जीता गया था, और वहां के बागियों को दबाने के लिए उन्हीं के सेनापतित्व में एक फौज वहां भेजी गई।

२

गुजरात की विजय आसान नहीं सिद्ध हुई। समूचे प्रायद्वीप पर अकबर का भी कब्जा पहली ही चढ़ाई में ज़रूर हो गया था, और उतनी ही आसानी से जितनी आसानी से पहले उनके पिता का कब्जा हो गया था। पर शाहंशाह के राजधानी वापस लौटने के बाद ही असन्तुष्ट मिर्जा लोगों ने फिर से खुली बगावत कर दी। जीता हुआ सूबा फिर हाथ से निकल गया होता, अगर नौजवान बादशाह दूसरी चढ़ाई के लिए तैयार न हो जाता। अपनी फौजों को दम लेने की भी फुरसत न दे, उसने नौ ही दिन के अन्दर वह लम्बा सफर पूरा कर डाला और बागी नेताओं को बुरी तरह से हराया। शान्ति स्थापित हो जाने के बाद उसने शहाबुद्दीन खां को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। गुजरात की गद्दी के बनाने और बिगाड़ने वाले बूढ़े ऐतमाद खां की इससे दाल ही न गल पाई और वह हाथ मलता ही रह गया। उसी ने एक बार मुगलों के हस्तक्षेप की मांग की थी और मुगल सम्राट के हाथों में इसी आशा से उसने वह राज्य सौंप दिया था कि अकबर उसी पर सब कुछ छोड़ सिर्फ नाम के लिए शाहंशाह रहा आएगा।

मुगल सूबेदार शहाबुद्दीन खां कड़ाई से काम लेने में असमर्थ रहा। सबको खुश रखकर चलने की उसकी नीति से न उसे लाभ पहुंचा, न मुगल साम्राज्य को ही। वह बड़ा ही चतुर राजनीतिज्ञ था, और वह समझ गया कि अकबर ने उसे गुजरात के उस तूफान में, जहां कितने ही सरदार एक-दूसरे से जूझ रहे थे, इस नीयत से जानबूझ कर धकेल दिया था कि वह या तो कामयाब होकर दिखाए, और या खुद ही अपनी कब्र खोद ले।

जो लोग बगावत करते रहे थे उनके साथ मेल-जोल करने की शहा-

बुद्दीन की नीति को (जिन्हें उसने शाहंशाह की बार-बार की हिदायतों के खिलाफ भी शाही नौकरियों में ले लिया था) अकबर ने पसन्द नहीं किया। गुजरात के कठपुतली-सुलतान मुजफ्फर शाह (तीसरे) को गुजरात पर होनेवाली पहली चढ़ाई के ही दौरान पकड़ कर शाही नज़र-बन्द करके रखा गया था और उसे तीस रुपया माहवार बतौर खर्चे के दिया जाता था। पर सन् १५७८ में वह मुगल अफसरों को चकमा देकर निकल भागा था। पहले उसने राजपिपला में शरण ली थी और बाद को लड़ाकू काठियों के बीच, जो कि उसकी मां की वजह से (जो काठिया-वाड़ के एक काठी सरदार की ही बेटी थीं) उसे अपने कबीले के भतीजे की तरह देखते थे। गुजरात की गद्दी को किसी जमाने में बनाने या बिगाड़ने वाले ऐतमाद खां को, जिसकी अब मुगल दरबार में बहुत प्रतिष्ठित अमीर की हैसियत बन चुकी थी, अकबर ने शहाबुद्दीन खां के मुकाबले कम खतरनाक माना। और इसलिए उन्होंने उसे वापस बुला लिया और उसकी जगह ऐतमाद खां को गुजरात का सूबेदार बना दिया।

ऐतमाद खां ने अपना पद संभालने के बाद उन फौजी और दूसरे अफसरों को नौकरी में रखने से इन्कार कर दिया जो बिल्कुल फालतू और बहुत ही महंगे पड़ते थे और जिन्हें शहाबुद्दीन ने एक तरह से सिर चढ़ा रखा था। इस तरह खींचतान शुरू हो गई और झगड़ालू लोगों ने शिकायत की कि नए प्रशासन ने उन्हें उखाड़ फेंका है। उधर फरार मुजफ्फर भी उसके बारे में लोगों का जो खयाल था उसे देखते कहीं अधिक कुशल राजनीतिज्ञ साबित हुआ। वह जहां रह रहा था वहीं से उसकी नज़र जानेवाले और आनेवाले मुगल सूबेदारों के बीच के झगड़ों, और देश के बेचैन लोगों में बढ़ते हुए असन्तोष पर बराबर रही। इधर की लड़ाइयों के जो दुष्परिणाम हुए उन्होंने मुजफ्फर को अपने बापदादों की गद्दी को पाने और मुगलों को खदेड़ देने के लिए खुलकर सामने आने के लिए बढ़ावा दिया।

मुजफ्फर अवसरवादी तो था ही। इस मौके से उसने फायदा उठाया।

काठियों, राजपूतों और कुछ लुटेरी कबीली जातियों की मिलीजुली एक बड़ी फौज इकट्ठी करके उसने सीधे अहमदाबाद के लिए धावा बोल दिया। रास्ते में सारा इलाका ही मानों उसके साथ हो गया। मुगल सूबेदार अहमदाबाद को कुछ अफसरों के जिम्मे छोड़ लगभग चालीस मील दूर बसे कारी पहुंचा और शहाबुद्दीन खां से मदद मांगी। पर किसी संयुक्त मोरचे के लिए उन लोगों के बीच रजामन्दी होने के पहले ही, ४ अप्रैल सन् १५८३ को, मुजफ्फर मुगलों के मामूली से प्रतिरोध को कुचलता हुआ अहमदाबाद में दाखिल हो गया। शाही फौज का तब मुजफ्फर की फौज से घमासान युद्ध हुआ, पर हार पहले से ही सुनिश्चित थी, क्यों कि शहाबुद्दीन ऐतमाद की जीत के लिए लड़ने वाला आदमी नहीं था। उसे भाग कर पाटन चले जाने का बहाना मिल गया, और मुजफ्फर शाह (तीसरा) अपने बापदादों की राजधानी में अपने पूरे अधिकार से गद्दी पर फिर से बैठा। मुगलों के हाथ से गुजरात निकल गया।

गुजरात की खबरों ने शाहंशाह को बेचैन कर दिया। शाही फौजों का सेनापतित्व करने के लिए उच्च कोटि के और अनुभवी योद्धा अमीरों की कमी नहीं थी, पर जिन पर वह किसी संकट के समयपूरीतरह भरोसा कर सकते थे ऐसे अमीरों की संख्या अवश्य बहुत कम थी। अन्त में शाहंशाह ने उन सबकी उपेक्षा कर नौजवान मिर्जा खां को गुजरात का सूबेदार बना कर भेजा।

२८ साल के उस छोकरे को इतना बड़ा काम देने के खतरों से अकबर पूरी तरह वाकिफ थे और उसकी सफलता के लिए उन्होंने हर तरह की तैयारी की थी। मिर्जा खां की मदद के लिए उन्होंने कई परखे हुए अफसरों को साथ भेजा था। मिर्जा खां के सेनापतित्व में प्रमुख सेना को जालौर के सीधे रास्ते से पाटन की ओर बढ़ना था। सूरत के जागीरदार कुलीज खां, और नौरंग खां को मालवा जाने की हिदायत थी जहां के सभी जागीरदारों को इकट्ठा करके उन्हें मिर्जा खां के पास पहुंच जाना था। बड़ौदा के सूबेदार कुतुबुद्दीन खां को भी हुक्म भेजा गय था कि जरूरत

के वक्त वह मिर्जा खां की मदद के लिए पहुंच जाने को तैयार रहें।

किन्तु मिर्जा खां जब तक पाटन पहुंचते, उसके पहले ही मुजफ्फर ने गुजरात में अपनी स्थिति और भी पक्की कर ली थी। सूबे पर अपना कब्जा पूरा करने की नीयत से वह उत्तर में पाटन की ओर, और दक्षिण में भड़ौंच और बड़ौदा की ओर बढ़ा जहां तब भी शाही फौजों का कब्जा था। मुजफ्फर की फौज ने उत्तर की ओर बढ़ कर उसके दाहिने हाथ शेरखां फौलादी की सेनाध्यक्षता में, पाटन से लगभग ३० मील दक्षिण मसाना में, मुगलों से टक्कर ली। 'तबाकत-ए-अकबरी' के विख्यात लेखक निजामुद्दीन की जोशीली सेनाध्यक्षता में शाही फौजों ने गुजराती फौजों को बुरी तरह से पराजित किया। शेर खां फौलादी बड़ी मुसीबत में पड़ा और उसके आदमी बहुत बड़ी संख्या में खेत रहे। लाचार, वह उलटे पांवों अहमदाबाद की ओर लौट पड़ा। पर शाही फौजें इस विजय से लाभ उठाने में असमर्थ ही रहीं। मुगल अफसर दुश्मन की लूट-खसोट से मिलने-वाली सम्पत्ति में हिस्सा बंटाने में ही लग गए, और उस सीमान्त प्रदेश को अपने कब्जे में लाने का एक और मौका उन्होंने गंवा दिया।

इस बीच मुजफ्फर गुजराती को जब पता लगा कि कुतुबुद्दीन खां अहमदाबाद की ओर बढ़ने वाला है, तो उसने उसका मुकाबला करने की तैयारी कर ली। राजधानी को बागी सरदार मीर आबिद के जिम्मे छोड़ वह खुद दक्खिन की ओर बढ़ गया और बड़ौदा में मुगल सूबेदार की फौज के चारों ओर घेरा डाल दिया। बाईस दिन तक कुतुबुद्दीन डट कर उसका मुकाबला करता रहा, पर दुर्गरक्षक टुकड़ी की वफादारी पर जब उसे शक हो गया तब अन्त में उसने सुलह का पैगाम भेजा। अपनी जान-माल की रक्षा का वचन पाकर २३ नवम्बर सन् १५८४ को वह किले से बाहर निकल आया, पर मुजफ्फर ने अपना वचन भंग करके उसका कत्ल करा दिया और दुर्ग पर कब्जा कर लिया।

कुछ ही वक्त बाद मुजफ्फर ने भड़ौंच पर भी कब्जा कर लिया। आम जनता ने चारों ओर से उसका समर्थन किया और उसे गुजरात के जायज

वादशाह के रूप में स्वीकार किया गया।

कुतुवुद्दीन की हत्या और मुजफ्फर की जवर्दस्त जीतों की खबर से मुगलों के दिल वैठ गए। मुजफ्फर को लड़ाई में हराने की उन्होंने आशा छोड़ दी; उसने वहुत ज्यादा दौलत जमा कर ली थी और अव उसे हर तवके के गुजरातियों का सक्रिय समर्थन मिल रहा था। अव तो उन्हें अपनी हिफाजत की ही फिक्र थी, और उन्होंने पाटन छोड़ जालौर जाने का फैसला किया। इसी नाजुक वक्त पर उन्हें खवर मिली कि शाहंशाह ने गुजरात के विद्रोह को कुचलने के लिए मिर्जा खां को तैनात किया है, और वह नए सूवेदार होकर उनकी मदद के लिए जल्द ही आ रहे हैं। नौजवान मिर्जा खां की इस नियुक्ति को शहावुद्दीन ने स्वभावतः साम्राज्य के अमीरों का, और खास तौर से अपना, अपमान माना। ऐतमाद खां जरूर उतना वेचैन नहीं हुआ, हालांकि मन में उसके भी कुछ वैसी ही भावना थी। जो भी हो, वफादार अफसरों के एक दल ने मिर्जा खां की अगवानी की। उनकी दृढ़ता देख वाकी अफसरों की, जो उनके खिलाफ वगावत करना चाहते थे या वीच में पड़े हुए थे, खुला विद्रोह करने या पीछे हटने की हिम्मत नहीं पड़ी।

मिर्जा खां ने २२ सितम्वर सन् १५८३ को फतहपुर सीकरी में शाहंशाह से विदाई ली। जैसी कि उन्हें हिदायत थी, उन्होंने लड़ाइयों में नाम कमाए हुए राजपूतों, सैयदों और पठानों की एक छोटी-सी, पर वहादुर, फौजी टुकड़ी के साथ जालौर के रास्ते सीधे पाटन की ओर कूच कर दिया। नियत गति से वढ़ते हुए वे जल्द ही जोधपुर से ७६ मील उत्तर-पूर्व वसे एक छोटे से कस्वे मिरथा में पहुंचे जहां मिर्जा खां को वह हरकारा मिला जिसे पाटन स्थित मुगल अफसरों ने तव तक के हालात से उन्हें वाकिफ कराने के लिए भेजा था। उसने उन्हें कुतुवुद्दीन के आत्मसमर्पण और कत्ल की चौंकाने वाली खवर दी। पर मिर्जा खां ने अपने परम विश्वासपात्र साथियों के कानों में इसकी भनक तक नहीं पड़ने दी। वैरम के आत्म-विश्वासी वेटे को छोड़ शायद ही किसी से इस तरह के वुद्धिमतापूर्ण कदम

की आशा की जा सकती थी। उन्होंने यह निश्चय करने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया, क्योंकि वह जानते थे कि एक लम्बे सफर के बाद थके-थकाए, और दुश्मन की ताकत की खबरों से पहले से ही सहमे हुए, उसके सिपाही इस भयंकर समाचार से तो बिल्कुल ही हिम्मत हार बैठेंगे।

जालौर में कुछ विलम्ब तो शायद अनिवार्य था, ताकि फौज का पीछे वाला हिस्सा भी आ मिले और स्थानीय जागीरदार भी अपने लोगों को इकट्ठा करने का वक्त पा जाएं। इसके अलावा मिर्जा खां के कुछ साथियों ने उन्हें यह भी सलाह दी कि नौजवानी के जोश में वह पूरी तैयारी के बिना मैदान में न कूद पड़ें।

पाटन शहर में मिर्जा खां ३१ दिसम्बर सन् १५८३ को दाखिल हुए। उनके पहुंचते ही मुरझाए हुए और निराश मुगल अफसरों की जान में जान आई। वे सोच ही रहे थे कि किसी तरह छिपछिपा कर या जूझते हुए ही जालौर वापस पहुंच जाएं और उपद्रवग्रस्त गुजरात से सदा के लिए मुंह मोड़ लें। पर नए सूबेदार के पहुंच जाने से उनके दिलों में नई उमंगें उछलने लगीं। उनके आगमन का दिन उत्सव का दिन बन गया।

पाटन में मिर्जा खां एक ही दिन रुके। आगे की कार्रवाई पर विचार करने के लिए उन्होंने अनुभवी अफसरों की एक मंत्रणा-सभा बुलाई और सभी को निर्भीकतापूर्वक अपनी-अपनी राय जाहिर करने के लिए कहा। उन लोगों की ओर से दो तरह के प्रस्ताव पेश किए गए। एक के अनुसार उन्हें पाटन में टिके रहकर मालवा सेना का इन्तजार करना और उसके बाद ही अहमदाबाद की ओर बढ़ना चाहिए था, और दूसरे के अनुसार खुद शाहंशाह को वहां आकर उनकी फौज की सेनाध्यक्षता करनी चाहिए थी और उसके पहले कदम बढ़ाना बेवकूफी की बात थी। पर मिर्जा खां और उनके अपने अफसरों की राय यह थी कि देर करना गलत होगा, और उन्हें तुरन्त चढ़ाई कर देनी चाहिए। काफी गरमागरम बहस हुई। अन्त में मिर्जा खां का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। अगले दिन, पाटन की रक्षा ऐतमाद खां के सुपुर्द कर, मिर्जा खां ने अहमदा-

बाद के लिए कूच कर दिया।

मुजफ्फर गुजराती उस वक्त भड़ौंच में अपनी फतह के नशे में चूर था। खबर पाते ही वहां के दुर्ग को अपने साले पर छोड़ वह भी अहमदाबाद की ओर दौड़ पड़ा। १२ जनवरी, सन् १५८४ को उसने अहमदाबाद से लगभग २ मील दूर, साबरमती नदी के बाएं किनारे पर बसे महमूद नगर में, अपना खीमा गाड़ा। वहां उसने अपनी फौजों की व्यूह-रचना कर डाली। वह खुद मध्य भाग में जम गया, और दाहिने और बाएं भागों का नेतृत्व उसने अपने परम विश्वासपात्र सेनापतियों को दिया।

शहाबुद्दीन अहमद खां और कुछ अन्य अनुभवी मुगल मनसबदारों के साथ-साथ खुद मिर्जा खां ने अकबर की सेना के मध्य भाग का नेतृत्व किया। दक्षिण पक्ष का नेतृत्व ऐसे सेनानायकों के हाथों में था जिनकी बहादुरी का सिक्का जमा हुआ था। वामपक्ष का नेतृत्व बहादुर राजपूत मनसबदारों को दिया गया। अग्र भाग में कुछ राजपूत और सैयद अफसर थे। और रिजर्व टुकड़ियों का नेतृत्व किया इतिहासकार निज़ामुद्दीन और मासूम भाखरी ने, जिन्होंने बाद को इस लड़ाई की बातें लिपिबद्ध कीं।

इसी व्यूह-रचना में मुगल सेना ने अहमदाबाद की ओर बढ़ना शुरू किया। रास्ते में मिर्जा खां को, भड़ौंच से एक जबर्दस्त फौज लेकर मुजफ्फर के चल देने की, और बाद को महमूदनगर पर उसके पड़ाव की खबरें मिलीं। यहां भी उन्होंने दुश्मन के बढ़ते आने की खबर को छिपाकर रखा। उनके भेदियों ने इस तरह की, घबड़ाहट पैदा करने वाली, जो भी खबरें लाकर दीं उन्हें ऊपर से तो उन्होंने कोरी अफवाहें बता कर टाल दिया, पर दिल में वह सामने के खतरों के बारे में पूरी तरह सावधान थे। उनकी सहज-स्वाभाविक सूझ-बूझ इस वक्त भी काम आई। अपने सिपाहियों में मायूसी न फैलने देने और दुश्मन को डराने की गरज से मिर्जा खां ने एक जाली शाही फरमान तैयार किया। उसमें कहा गया था कि एक बहुत बड़ी फौज लेकर खुद शाहंशाह उधर तशरीफ ला रहे हैं, और इसलिए उनके आने के पहले वे लोग दुश्मन से भिड़ जाने की जल्दबाज़ी न करें।

इसका असर वही हुआ जो वह चाहते थे। उनकी फौजों ने खुशियां मनाईं और एक बहुत बड़ी दावत हुई, जबकि दुश्मन के खीमे में मायूसी छा गई। इस उम्मीद में कि अकबर के गुजरात आने की खबर से मुजफ्फर डर जाएगा और मुगल सेना से टक्कर लेने का इरादा छोड़ देगा, और इस उम्मीद में भी कि मुगल फौजों की मदद के लिए मालवा सेना भी जल्द ही आ पहुंचेगी, शाही मुगल फौजें बढ़ती चली गईं, और महमूदनगर की दुश्मन की छावनी के पास से, विना किसी भी वाधा के, निकल आईं।

किन्तु उस जाली फरमान के जारी किए जाने और उन खुशियों और दावतों के पीछे और भी ज़बर्दस्त और गहरे कारण थे। मिर्जा खां उस जगह और वक्त को दुश्मन के साथ किसी टक्कर के लिए उपयुक्त नहीं समझते थे। मुजफ्फर ने अपनी फौजें नदी के वाएं किनारे पर जमा कर रखी थीं, और दुश्मन से टक्कर लेने के लिए मिर्जा को नदी पार करनी पड़ती। नदी की ओर पीठ करके मुजफ्फर की प्रचण्ड फौजों का मुकाबला करना जबर्दस्त मूर्खता की बात थी। यह हर प्रकार की युद्ध-नीति के विपरीत होता। पर एक नौजवान सेनापति की बात भला लड़ाई में बाल सफेद करने वाले उनके सहयोगियों के गले कैसे उतर सकती थी, अगर शाही फरमान का आधार उनके पास न होता। उस जाली फरमान ने सारे विरोध को शान्त कर दिया। उसकी वजह से एक ऐसा संकट दूर हो गया जिसके चलते गुजरात पूरी तरह से मुगल साम्राज्य से निकल जा सकता था।

आखिरकार १४ जनवरी सन् १५८४ को मिर्जा खां सरखेज गांव में आकर रुके, जो अहमदावाद से लगभग छः मील दक्षिण-पश्चिम, और जिस जगह पर साबरमती की धारा अचानक तेजी से दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़ती है वहां से एक मील था। मुजफ्फर ने जब सुना कि मिर्जा खां आगे बढ़कर सरखेज पर जा रुके हैं तो उसने महमूदनगर का अपना खीमा उठा दिया, और अहमदाबाद से लगभग एक मील उत्तर-पश्चिम, उस्मानपुर के पास, नदी को पार कर उस ओर तेजीसे जा बढ़ा। उसने शाही फौजों के सामने

कोई चार मील फासले पर, अपने खीमे गाड़ दिए। रात को मुजफ्फर के आदमियों ने छापा मारा, पर उन्हें सफलता नहीं मिली और पीछे लौटना पड़ा। दूसरे रोज सवेरे ही शाही फौजों ने इस तरह के आकस्मिक हमलों के खिलाफ अपने मोरचे मज़बूत कर लिए। अगले दो दिनों के अन्दर सिवा छोटी-मोटी झड़पों के जम कर कोई भी मुकाबला नहीं हुआ। मुगल सेनापति सीधे मुकाबले में तब तक नहीं आना चाहते थे जब तक कि मालवा से आनेवाली फौजें नहीं आ पहुंचतीं। दूसरी ओर मुजफ्फर का धीरज छूटता जा रहा था और वह इस बात पर तुला हुआ था कि शाहंशाह और मालवा की फौजों के आ पहुंचने के पहले ही, जिसकी खबरों से वह घबड़ाया हुआ था, जम कर मुकाबला हो जाए, और देर का फायदा उसके दुश्मन को न मिलने पाए। इसलिए लड़ाई को देर तक टालना मुश्किल होता जा रहा था। आखिरकार, १६ जनवरी को मुजफ्फर ने अपनी फौजों को आक्रमण के लिए तैयार कर लिया।

दुपहरी बीत चुकी थी। इतने दिन चढ़े दुश्मन के साथ मोरचा लेने की मिर्जा खां की इच्छा नहीं थी, पर कोई चारा भी नहीं था। इसलिए वे भी आगे बढ़े। पता यह लगा था कि मुजफ्फर एक टुकड़ी को लेकर मुगलों पर पीछे से हमला करने वाला है। उसकी इस चाल को बेकार करने की नीयत से मुगल सेनापति ने निजामुद्दीन अहमद और मासूम भाखरी के साथ-साथ राय दुर्गा को, पीछे से, सरखेज गांव को अपने दाहिने रखते हुए, दुश्मन पर हमला करने के लिए भेज दिया।

घमासान युद्ध हुआ। लड़ाई ज्यादा देर नहीं रही, पर टक्कर जबर्दस्त थी और वारा-न्यारा करनेवाली। दोनों फौजों के अग्र गारदों ने एक-दूसरे पर हमला किया और दोनों ओर के योद्धा गुत्थमगुत्था भिड़ गए। कुछ ही देर में पूरी लड़ाई छिड़ गई। राजपूतों और बढ़ा के सैयदों ने, जो अपनी जन्मजात युद्ध-लिप्सा और अदम्य साहस के लिए विख्यात थे, दुश्मन के छक्के छुड़ाने में कोई कसर न उठा रखी। पर दुश्मन की फौज कहीं ज्यादा बड़ी थी और एक मोटी दीवार की तरह खड़ी थी जिसे भेदना मुश्किल था।

मिर्जा खां तीन सौ प्रचण्ड योद्धाओं और एक सौ खूंख्वार पहाड़-जैसे हाथियों के साथ मध्य भाग में थे। उनकी पैनी नजर फौज के हर हिस्से पर थी। अब मुजफ्फर भी, पार्श्व भागों को घमासान युद्ध में भिड़ा देख, अपने मध्यभाग से आगे बढ़ आया। छः या सात हजार चुने हुए बहादुरों को लिए हुए वह मुगल सेना के मध्य में घुस पड़ना चाहता था। मुगलों के दिल दहल उठे। कुछ ने पीछे हटने की मांग की। पर कायरों की सलाह पर कुछ भी ध्यान न दे मिर्जा ने अपने घोड़े को एड़ लगाई और अपने ऊंचे-ऊंचे हाथियों की ओट में अपने मध्य भाग को लेकर लड़ाई में कूद पड़े। पहाड़ से वे हाथी, जिनमें 'शेरमार' भी शामिल था, जैसे ही आगे बढ़े, मुजफ्फर के होश उड़ गए। ठीक उसी समय निजामुद्दीन ने अप्रत्याशित रूप से पीछे से वार किया। और इसके बाद ही राय दुर्गा ने बाईं ओर से हमला करके उन्हें घेर लिया। दुश्मन का मोरचा कमजोर पड़ गया। लड़ाई का संचालन करने के लिए शाहंशाह के आ पहुंचने की अफवाह ने उन्हें और डरा दिया। और विजय की सारी आशा छोड़ वे भाग खड़े हुए। मुजफ्फर के साथ कोई भी नहीं टिका रह सका, और वह अकेला पड़ गया। उसके भी पांव देर तक टिके नहीं रह सकते थे। वह माही नदी की ओर भागा।

सूरज डूबने को था। घमासान युद्ध के बाद विजेताओं ने भी उनका पीछा करने की फिक नहीं की। सरखेज के अपने खीमों में वे रात भर चैन से सोए। सवेरे उन्होंने राजधानी में बड़ी धूमधाम से प्रवेश किया। इस शानदार विजय की यादगार के रूप में मिर्जा खाँ ने युद्धस्थल पर एक बागीचा लगाने और एक स्मारक बनाने का हुक्म दिया। बागीचे का नाम फतहबाग रखा गया, जो अहमदाबाद के नागरिकों के लिए सैर करने की एक सुहावनी जगह बन गई।

सरखेज की लड़ाई मिर्जा खां की जिन्दगी की बहुत महत्वपूर्ण घटना है। भाग्य ने जरूर इस नौजवान सेनापति का साथ दिया, पर अपने से कहीं ज्यादा ताकतवर दुश्मन पर उसने जो फतह पाई उसका श्रेय उसके

Acc. No. 22820

अद्‌भुत कौशल के साथ-साथ उसकी सूझबूझ और अद्वितीय साहसिकता को है। मुगल सेना असन्तुष्ट अफसरों की आपसी फूट के कारण बिल्कुल ही छिन्न-भिन्न थी। मिर्जा खां की अपूर्व प्रतिभा ही सफलतापूर्वक उसका इस्तेमाल कर सकी।

मिर्जा गुजराती ने इतनी बड़ी हार के बाद भी पूरी तरह से हिम्मत नहीं हारी थी। उसने यह आशा बांध रखी थी कि कुबेर के कोष जैसे अपने खजाने को दोनों हाथों से लुटा कर वह अपना गया हुआ राज्य वापस पा लेगा। माही के किनारे-किनारे बढ़ता हुआ वह खम्भात पहुंचा जहां पर उसने बन्दरगाह के धनी व्यापारियों द्वारा जमा किया गया बहुत बड़ा खजाना हड़प लिया। जिसने भी उसका साथ देने की कसमें खाईं उसे उसने कीमती तोहफे दिए, और कुछ ही दिनों में काफी बड़ी संख्या में वे सब लोग उससे फिर आ मिले जिन्होंने ऐन मुसीबत के वक्त उसे छोड़ दिया था। एक बार फिर उसने मुगलों का मुकाबला करने और हार के जबड़ों से अपनी गई हुई जीत को खींच निकालने के लिए एक बहुत बड़ी फौज इकट्ठी कर ली।

इधर मालवा की सेना सरखेज की लड़ाई के तीन दिन बाद अहमदाबाद पहुंची। आगे की नीति निर्धारित करने के लिए मंत्रणा-सभा बुलाई गई। काफी मतभेद रहते हुए भी अन्त में एक संयुक्त कार्यक्रम पर सब एकमत हो गए।

शाही फौज मुश्किल से एक या दो मंजिल आगे बढ़ी थी कि वह रुक गई, और काफी वक्त उसने बेकार बिता दिया। मिर्जा खां प्रशासनिक व्यवस्था की खातिर पीछे ही रह गए थे। दुश्मन के अगले कदम के इन्तजार में रुके रहने की इस नीति के वह खिलाफ थे। राजधानी को अपने कुछ विश्वसनीय अफसरों के जिम्मे छोड़ वह फौज में आ मिले जिससे पस्त-हिम्मत हो चले सिपाहियों के बीच नए हौसले पैदा हो गए। खम्भात की ओर कूच फिर शुरू हो गया।

शाही फौजों के बढ़ते आने की खबर पाकर मुजफ्फर घबड़ा गया और

खम्भात में ज्यादा दिन रुकने में उसने खतरा देखा। वह भाग खड़ा हुआ। नर्मदा को पार कर वह राजपिपला की राजधानी नणदाद पहुंचा। इस बीच मिर्जा खां वड़ौदा पहुंच गए और सोलह दिन तक उनका वहीं पड़ाव रहा।

मिर्जा खां को कुछ विपरीत परिस्थितियों के कारण वड़ौदा में रुकने के लिए मजबूर होना पड़ा था। दरअसल नए सूबेदार के रास्ते में उनके मातहतों द्वारा तभी से अड़ंगे लगाए जा रहे थे जब से कि वह इस फौज के सेनापति हुए थे। अबुल फजल को लिखे गए मिर्जा खां के पत्रों से यह स्पष्ट है कि इस नौजवान सेनापति को अनुभवी कप्तानों का सक्रिय और ऐच्छिक सहयोग नहीं मिल रहा था। वे लोग अपने नेता को गिराने के किसी भी मौके से नहीं चूकते थे। दुश्मन का सामना करने के बजाय उनका सारा वक्त आपसी लड़ाई-झगड़े में बीत रहा था। एक ऐसे सूबे में, जहां उनकी हार ही हार होती आई थी, मिर्जा खां की सफलता उन लोगों के लिए बड़ी ही भद्द की बात होती। प्रधान सेनापति की समझदारी इसी में थी कि सतपुड़ा के पहाड़ी इलाकों की ओर वह तभी बढ़ते जब उन्हें इस बात का इत्मीनान हो जाता कि ये अफसर ऐन ज़रूरत के वक्त ही चीं नहीं बोल देंगे।

आखिरकार दक्षिण की ओर कूच शुरू हुआ। मुजफ्फर मुगलों के आपसी झगड़ों से बराबर फायदा उठाता और बच निकलता आया था। जब उसने उनके बढ़ते आने की खबर सुनी तो नणदाद छोड़ वह कोहचांपा नाम की एक पहाड़ी जगह की ओर चल दिया, जो अहमदाबाद से १२० मील दक्षिण है। यह जगह तीन ओर से सतपुड़ा पहाड़ियों से और दक्षिण में तापती नदी की एक शाखा से घिरी हुई थी, और इस फरार शाहजादे के लिए बहुत ही अनुकूल और सुरक्षित थी। पर मुजफ्फर का दुर्भाग्य मानों उसके साथ-साथ चल रहा था। मुगल फौज जल्द ही नणदाद पहुंच गई।

१० मार्च सन् १५८४ को मिर्जा खां नणदाद से उस पहाड़ी इलाके की

ओर बढ़े जहां कि, खबरों के अनुसार, बागियों की फौज फिर से इकट्ठी हो रही थी। मिर्जा खां की फौजें लड़ाई की व्यूह-रचना में बढ़ी जा रही थीं। बूढ़े शहाबुद्दीन को अपनी बगल में लिए मिर्जा खां मध्य भाग का नेतृत्व कर रहे थे। दोनों बाजुओं पर मालवा की सेना थी जिसने ही आने वाली लड़ाई का सबसे बड़ा धक्का संभाला। सेना के अग्रभाग में राय दुर्गा सीसौदिया और पायन्दा खां मुगल थे। इतिहासकार ख्वाजा निजामुद्दीन और मीर मासूम भाखरी, जो उन दिनों मिर्जा खां के मातहत थे, रिजर्व टुकड़ियों के नेता थे। फौजें जब राजपिपला जिले की चांपा पहाड़ियों के नजदीक पहुंचीं, मिर्जा खां ने निजामुद्दीन को एक अग्र गारद के साथ दुश्मन के मोरचों का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए आगे भेज दिया।

निज़ामुद्दीन की टुकड़ी जैसे ही आगे बढ़ी, कि उसका मुकाबला बागियों की आगे बढ़ी हुई एक पैदल टुकड़ी के साथ हो गया। जमकर मुडभेड़ हुई, और बागियों को वहां तक पीछे खदेड़ दिया गया जहां कि ऊंची पहाड़ी पर मुजफ्फर की फौजें लड़ाई की व्यूह-रचना में खड़ी थीं। इस प्रारंभिक सफलता से उत्साहित होकर मुगल फौजें आखिरी लड़ाई के लिए आगे बढ़ीं। नीचे की जमीन चूंकि ऊबड़खाबड़ और फिसलन वाली थी और घुड़सवार फौजों के लिए उस पर आगे बढ़ना मुश्किल था, इसलिए पैदल सेना को आगे बढ़ाया गया। जल्द ही प्रचण्ड संग्राम छिड़ गया। तीरों और गोलियों की तेज बौछार ने दुश्मनों के होश उड़ा दिए। दोनों ही ओर काफी लोग घायल हुए और मरे। इसी बीच शाही फौज के वाम पक्ष ने, कुलीज खां के नेतृत्व में, पहाड़ी की ओर आगे बढ़कर हमला बोल दिया। कुलीज खां की मदद में मुगल फौज के एक पुराने बहादुर सेनापति ख्वाजा रफी थे, जो तभी-तब इस लड़ाई के मोरचे पर आ पहुंचे थे। इस आक्रमण की बाढ़ के सामने टिकना मुजफ्फर के लिए असंभव हो गया और वह थोड़ा पीछे हटा। पर दूसरे ही क्षण उसकी मदद के लिए कुछ और टुकड़ियां आ पहुंचीं, और कुलीज खां की टुकड़ियों को कुछ दूर पीछे हटाने में वह सफल हो गईं।

लड़ाई की यह सबसे नाजुक घड़ी थी। गुजराती फौजें अगर अपनी-अपनी जगह पर डटी रहतीं और अपनी व्यूह-रचना को कायम रखतीं, तो शायद उन्हें हरा सकना असंभव हो जाता। पर आक्रमणकारियों को पिटते देख उन्होंने अपनी-अपनी जगह छोड़ दी और अव्यवस्थित रूप में कुलीज खां के पीछे दौड़ पड़ीं। इससे मुगलों को मौका मिल गया। मुगल फौजों के अग्र भाग ने ज्यों ही देखा कि उसके सामने का रास्ता साफ और खाली है, वह पहाड़ी पर जा चढ़ा। उसके दुश्मनों ने, कुलीज खां की टुकड़ियों को काफी दूर तक खदेड़ देने के बाद, लौट कर देखा कि उनकी जगह हाथ से निकल चुकी है। इस भयंकर भूल का अन्दाज़ होते ही वे लौट पड़े और मुगलों के साथ घमासान लड़ाई में भिड़ गए।

दोनों ओर के सिपाही जब बहुत ही प्रचण्ड युद्ध में इस तरह गुत्थम-गुत्था भिड़े हुए थे, निजामुद्दीन ने किसी तरह कुछ हाथियों पर से चलाई जानेवाली बन्दूकें (हथनाल) जुटा लीं जो उन्होंने वक्त-जरूरत के लिए मिर्जा खां के पास से मंगा रखी थीं। बन्दूकें हाथियों की पीठों पर लड़ाई के मैदान में ले जाई गई थीं। ठीक ऐसे ही मुश्किल मौकों पर उनका इस्तेमाल होना था। इन बन्दूकों से गोलियों की जो बौछार हुई वह ठीक वहीं पड़ी जहां मुजफ्फर खुद तैनात था, और उसने तहलका मचा दिया। कुलीज खां नीची पहाड़ियों के बीच अपनी टुकड़ियों के लिए सुरक्षित स्थान पा चुका था, और वहां डटा हुआ था।

मुगल फौजों की युद्ध-कला कहीं अधिक सफल साबित हुई, और मुजफ्फर उसके सामने ज्यादा देर नहीं ठहर सका। ऊपर से होने वाली आग की बौछार और नीचे से होने वाले जबर्दस्त हमले के सामने उसकी फौजें नहीं टिक सकीं। हथनालों ने जब उसकी फौजों पर आग उगलनी शुरू की और उसके कितने ही पक्के साथी मारे गए, तो वह घबड़ा गया। उसके पांव उखड़ गए और अपने २००० आदमियों की लाशें पीछे छोड़ वह भाग खड़ा हुआ।

मुजफ्फर के खिलाफ मिलने वाली इस दूसरी विजय की खबर शाहं-

शाह को फतेहपुर में मिली। फतह देने वाले खुदा का उन्होंने शुक्र अदा किया और गुजरात के अमीरों को तरह-तरह के ओहदे, खिताब और जागीरें देने के लिए दिल खोलकर फरमान जारी किए। मिर्जा खां, जो तब अपनी अट्ठाईसवीं ही साल में थे, खानखाना के खिताब से सम्मानित किए गए, जिसका बड़े से बड़ों ने भी सिर्फ ख्वाब देखा था। तरक्की करके उन्हें पंचहजारी मनसब दिया गया। दूसरे अफसरों को भी सम्मानित किया गया।

मुजफ्फर को दुबारा हराने के बाद खानखाना नर्मदा नदी पार कर अहमदाबाद की ओर बढ़े। ६ मई सन् १५८४ को उन्होंने विजयी की आनबान और शान शौकत के मुताबिक शहर में प्रवेश किया। अभी तक प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं पर ज्यादा ध्यान देने का उन्हें मौका ही नहीं मिल पाया था। अब उन्होंने प्रशासन को पुनर्व्यवस्थित करना शुरू किया। आपसी झगड़ों से जर्जर और लम्बी लड़ाई से ध्वस्त उस सूबे की समस्याएं बहुत ही जबर्दस्त और बड़ी परेशानी पैदा करने वाली थीं। शहाबुद्दीन और ऐतमाद खां जैसे प्रचण्ड प्रशासक भी उन्हें नहीं सुलझा सके थे। ऐसी हालत में इस नौजवान सूबेदार के लिए उनका सन्तोषजनक हल निकाल लेना कोई हंसी खेल नहीं था। पर सात महीने के अन्दर ही खानखाना ने प्रशासन यंत्र में नई जान डाल दी। रात-दिन एक कर उन्होंने कड़ी मेहनत की, और शान्ति और व्यवस्था फिर से स्थापित करने में सफल हो गए।

शाही फौज की एक जबर्दस्त टुकड़ी मुजफ्फर के पीछे पड़ी ही रही और वह ज्यादा दिन तक उन पहाड़ी इलाकों में नहीं रह पाया। राजपिपला की तंग कन्दराओं से उसे बाहर निकलना पड़ा, और वह पाटन की ओर चल दिया।

उत्तर की ओर की उसकी उस यात्रा के बीच ही उसे धर दबाने के लिए खानखाना ने एक टुकड़ी भेजी। मुगलों को अपना पीछा करते देख वह अहमदाबाद से ६४ मील उत्तर-पूर्व ईदर की ओर मुड़ गया। पर उधर

भी उसकी राह बन्द थी। उसके बचाव की अब एक ही सूरत थी—काठियों की शरण। उत्तर या पूरब की ओर बढ़ने का इरादा छोड़ वह पच्छिम की ओर बढ़ा और काठियावाड़ पहुंचा। यहां उसने अपना कुबेर का खजाना खोल दिया और लालची लोगों की एक भीड़ जमा कर ली। इस तरीके से सबसे बड़ी मदद उसने दो शक्तिशाली सरदारों की प्राप्त की—जूनागढ़ के अमीन खां गोरी की, और झालावाड़ के राजा जाम सत्रसाल की। उनसे यह वादा लेकर कि अहमदाबाद की ओर उसके बढ़ने पर वे भी उसके पीछे-पीछे उसकी मदद के लिए रवाना हो जाएंगे, एक बार फिर मुजफ्फर अपने भाग्य की परीक्षा के लिए चल दिया।

किन्तु खानखाना तैयार थे। अहमदाबाद की ओर मुजफ्फर के बढ़ने का पता उन्हें लग गया और राजधानी पर किसी भी ओर से अचानक हो जाने वाले आक्रमण से बचने के लिए उन्होंने अलग-अलग दिशाओं में तीन टुकड़ियां रवाना कर दीं। शहर के चारों ओर की चौकियों को चौकस करके खानखाना २२ नवम्बर, सन् १५८४ को राजधानी छोड़ बाहर निकल आए और बागी मुजफ्फर को सबक देने के लिए पश्चिम की ओर चल दिए।

मुजफ्फर, राजकोट के पांच मील उत्तर-पूर्व, मोरवी नाम के कस्बे तक पहुंच गया था। वहां रुक कर वह अपने धन से खरीदे हुए नए दोस्तों की प्रतीक्षा कर रहा था। पर उसके वे सरदार दोस्त तो सिर्फ जबानी दोस्त बने थे। उन्होंने विश्वासघात किया, और किसी ने भी अपना वादा पूरा नहीं किया। मुगलों के खिलाफ लड़ाई में हारते जाने वाले उस अभागे सुलतान की मदद करने में उन्हें कोई अक्लमन्दी नहीं दिखाई दी। खानखाना की तेज रफ्तार से घबड़ा कर, और किसी भी ओर से मदद की उम्मीद न देख, मुजफ्फर लौट पड़ा। राजकोट होते हुए उसने जाकर बरदा की पहाड़ियों की शरण ली, जो सदा से डाकुओं और लुटेरों का आश्रयस्थल बनती आई थीं।

मुगल सेनापति ने तब अपने चार सैन्यदल उधर भेजे—तीन अपने

सहायकों के नेतृत्व में और एक खुद अपने। पर बागी मुजफ्फर का कहीं पता नहीं चला। हर तरफ से बुरी तरह से खदेड़ा जाकर वह हर तरह से पस्त हो गया, और धीरे-धीरे हिम्मत हारता चलता गया। आखिरकार एक बार फिर वह गुजरात की ओर मुड़ा। यह खबर मिलते ही खानखाना भी अहमदाबाद की ओर बढ़े। पर उनके वहां पहुंचने के पहले ही एक मुगल टुकड़ी के हाथों शिकस्त खाकर वह खदेड़ दिया गया था।

खानखाना को यह शुभ समाचार मोरवी में मिला। राजधानी लौट कर वह फिर शान्ति और व्यवस्था की पुनः स्थापना के काम में लग गए और इस तरह उन्होंने उद्धार किए हुए क्षेत्रों में मुसीबतों से घिरे हुए लोगों की रक्षा की। इसी बीच सूबेदार के लिए फतेहपुर से शाहंशाह का यह हुक्मनामा आ पहुंचा कि गुजरात की हालत सुधरते ही वह शाही राजधानी चले आएं। मुजफ्फर को दो बार हराया जा चुका था। उसके अधिकांश मददगार या तो कुचल दिए गए थे और या अपनी ओर मिला लिए गए थे। निकट भविष्य में उसके फिर से उठने की कोई संभावना नहीं दिखाई दे रही थी। इसलिए शाहंशाह के हुक्म के मुताबिक, अगस्त सन् १५८५ में, वह आगरे के लिए रवाना हो गए।

अबुल फजल को लिखे गए उनके पत्रों से लगता है कि किसी हद तक वह अपनी मर्जी से ही वापस बुला लिए गए थे। अपने ईर्ष्यालु सहयोगियों के द्वेषपूर्ण व्यवहार से वह तंग आ गए थे। उन्हें नीचा दिखाने का कोई भी मौका वह हाथ से जाने नहीं देते थे। उन्होंने बार-बार शाहंशाह से प्रार्थना की थी कि गुजरात की गिरी हुई राजनीति से वह उन्हें उबार लें। अकबर चूंकि उत्तर की समस्याओं में उलझे हुए थे और खुद उतनी दूर जाना नहीं चाहते थे इसलिए संभव है कि उनसे सलाह और मदद लेने के लिए उन्होंने अपने पास ही बुला लेना चाहा हो।

शाही दरबार में खानखाना ज्यादा दिन नहीं रुके। गुजरात में मुजफ्फर अब भी शाही शासन के लिए सिरदर्द बना हुआ था। सूबेदार का वहां जाना अनिवार्य हो उठा। जल्द ही शाहंशाह ने, जब कि उनका खीमा

पंजाब की ओर जा रहा था, खानखाना को गुजरात जाकर अपना काम फिर से संभाल लेने के लिए विदा कर दिया।

सिरोही जाते हुए खानखाना ने रास्ते में सिरोही और जालोर के दो स्वतंत्र राज्यों को भी अपने अधिकार में कर लिया। गुजरात के रास्ते में पड़ने वाले इन दोनों स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व अकबर की आंखों में, जो सारे भारत में अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, कब से खटक रहा था।

खानखाना ने अहमदाबाद से कुछ फौज मंगा भेजी थी जो निजामुद्दीन के नेतृत्व में शीघ्र ही आ पहुंची। मुगलों के बढ़ते आने की खबर पाकर सिरोही का राजा घबड़ा गया और बिना चीं-चपड़ के उसने घुटने टेक दिए। बिना किसी शर्त के उसने आत्मसमर्पण किया, बहुत बड़ी रकम कर (खिराज) के तौर पर दी, और अकबर का आधिपत्य स्वीकार किया। अब खानखाना जालोर के हाकिम गजनी खां को काबू में लाने की गरज से आगे बढ़े। पर उसने आत्मसमर्पण न कर लड़ने की ठानी। किन्तु परिस्थितियां उसके खिलाफ थीं, और उसे भी घुटने टेकने पड़े। पर आखिर में झुक जाने पर भी उसे अपनी अकड़ का दण्ड भोगना पड़ गया। उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और जंजीरों से बांधकर उसे अहमदाबाद ले जाया गया।

खानखाना की सूबेदारी का यह दूसरा दौर अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण रहा। प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं ने ही उन्हें उलझाए रखा और सूबे की आर्थिक स्थिति को सुधारने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। मुजफ्फर भी मुगल फौजों से अब बेहद डरा हुआ था। इसके अलावा काठियावाड़ के अपने दगाबाज साथियों से निपटने में ही उसका सारा वक्त बीत रहा था। इसलिए सूबेदार के साथ एक बार फिर लड़ने की तो बात ही वह नहीं सोच सकता था।

खानखाना ने गुजरात में चार साल तक पूरे दिल से और साहस के साथ शाहंशाह की सेवा की। उनका रण-कौशल तो मुजफ्फर के खिलाफ

होने वाली लड़ाइयों में ही पूरी तरह सिद्ध हो चुका था। मुजफ्फर भी अब अपनी खोई हुई गद्दी को वापस पाने की सारी आशाएं शायद छोड़ चुका था। खानखाना के प्रशासन से दुर्दशाग्रस्त सूबे में फिर से शान्ति स्थापित हो गई थी। उनकी उदार नीति की प्रशंसा उनके मित्र और शत्रु एक-स्वर से कर रहे थे। समय आ गया था कि अपनी दूसरी महत्वाकांक्षाओं की ओर वह दृष्टि डालें। एक मौका जल्द ही हाथ लगा जब शाहंशाह ने बदख्शां पर चढ़ाई करने का फैसला किया। खानखाना ने इस मौके पर उनके अन्तर्गत काम करने की इच्छा प्रकट की और अकबर ने उन्हें बुला लिया। अहमदाबाद से चलकर मार्च सन् १५८७ में खानखाना लाहौर में अकबर से जा मिले।

३

गुजराती विद्रोह के दमन और सिंध में मिर्जा जानी पर मिलने वाली विजय—इन दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के बीच के तीन वर्ष खानखाना ने कुछ आराम से काटे। वह ज्यादातर दरबार में ही रहे और इसी दौरान जब शाहंशाह सैर के लिए कश्मीर और कावुल गए तब किसी न किसी हैसियत से उनके साथ रहे। अपनी फुरसत के वक्त का पूरा सदुपयोग उन्होंने किया और बाबर की आत्मकथा का तुर्की से फारसी में अनुवाद कर डाला। २४ नवम्बर सन् १५८९ को यह अनुवाद अकबर की भेंट किया गया जो अपने दादा की आत्मकथा को फारसी में अनुवादित देख बहुत ही खुश हुए और प्रतिभाशाली अनुवादक की बड़ी तारीफ की।

एक महीने बाद खानखाना को साम्राज्य के वकील (साम्राज्य के उपप्रधान) का ओहदा दिया गया जो कि नवम्बर सन् १५८९ में राजा टोडरमल की आकस्मिक मृत्यु से खाली हो गया था। इस पद पर शाहंशाह एक योग्य उत्तराधिकारी को ही नियुक्त करना चाहते थे। खानखाना को इस सर्वोच्च पद पर नियुक्त करने की बात उनके मन में तभी आ गई थी जब कि वह कावुल से लौटते समय सिन्धु नदी के उसी पार थे। उन्होंने अपने नए वकील को अब गुजरात की जागीर के बदले जौनपुर की जागीर दी।

मुगल दरबार के किसी अमीर के लिए वकील का ओहदा ऊंची से ऊंची महत्त्वाकांक्षा का पद था। वकील का स्थान खुद शाहंशाह के ही बाद दूसरा था। खानखाना के पिता बैरम खां पहले अमीर थे जिन्हें यह ओहदा मिला था, और अपने वक्त में उन्होंने अपने अधिकारों का व्यापक रूप में उपयोग किया था। तब से अब तक वकील के अधिकार काफी घट

गए थे और वह सल्तनत की जान और प्रशासन-यंत्र का वास्तविक संचालक नहीं रह गया था। पर सल्तनत का पहला अमीर वही समझा जाता था और उसका ओहदा बाकी सबों से ज्यादा ऊंचा था।

खानखाना के साहित्यिक जीवन में ये वर्ष सबसे अधिक मूल्यवान रहे। कश्मीर के झरनों के संगीत और काबुल के हरेभरे कुसुमित मैदानों ने उनके अन्तस्तल में सोए पड़े कवित्व के स्रोत को जगा दिया, जो उनके परवर्ती जीवन काल में अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य और ओज के साथ फूट पड़ा। संभवतः यही वह समय था जब कि खानखाना, जो अब जौनपुर के जागीरदार भी थे, तुलसीदास से मिले जो 'मध्यकालीन हिन्दी कविता की जादूभरी फुलवारी के सबसे ऊंचे पौधे' कहे जाते थे। यह महाकवि वाराणसी में रहते थे। परवर्ती जीवन में खानखाना उत्तर भारत से अधिकतर दूर ही कहीं रहे, पर उस समय जो मित्रता शुरू हुई वह बाद को भी कायम रही होगी। खानखाना ने अपनी 'वकालत' का एक साल भी मुश्किल से पूरा किया होगा कि शाहंशाह ने उनकी युद्ध-प्रतिभा के कारण उन्हें कन्दहार पर की जाने वाली चढ़ाई की जिम्मेदारी दे डाली। कुछ वक्त बाद इसने बदल कर सिन्ध की चढ़ाई का रूप ले लिया।

सन् १५८९ बीतते-बीतते उत्तर-पश्चिम में अकबर के पांव मजबूती से जम चुके थे। एक ही स्वतंत्र शासक बचा था जो शाहंशाह के आगे झुकने को तैयार नहीं था। वह था दक्षिणी सिन्ध का मिर्जा जानी। उसको झुकाने की तैयारी की ही जा रही थी कि शाहंशाह को कन्दहार को फतह करने का अचानक एक मौका मिल गया जिसे वह चूकना नहीं चाहते थे।

कन्दहार पर कब्जा करने की अकबर की बहुत दिनों से इच्छा थी। अपने जंगी और तिजारती महत्व के कारण उसे उत्तर-पश्चिमी सीमा की कुंजी माना जाता था। तत्कालीन एक मुगल इतिहासकार के अनुसार, 'एक ऐसे जमाने में जबकि काबुल भी दिल्ली साम्राज्य का एक हिस्सा था, कन्दहार हमारी रक्षा की पहली और अनिवार्य रूप से आवश्यक पंक्ति के रूप में था।' ईरान के शाह का भतीजा सुलतान हुसेन मिर्जा कन्द-

हार का सूबेदार था और सन् १५९० में उसकी मृत्यु होने पर उसके दोनों बेटों ने शाह के तुर्की और उजबेग दुश्मनों के भड़कावे में आकर शाह के लिए मुश्किलें पैदा करना शुरू कर दिया। अकबर ने अब, मित्रता का ढोंग रचकर, शाह की मदद करने और उसकी मुसीबतें दूर करने के लिए हाथ बढ़ाया। खानखाना के प्रधान सेनापतित्व में एक बहुत बड़ी और हर तरह के साधनों से सज्जित सेना कन्दहार की ओर रवाना कर दी गई। उस विद्रोह से फायदा उठाने और कन्दहार को दखल करने का यह बहाना भर था। पर इस चतुरतापूर्ण नीति को जल्द सफलता नहीं मिल पाई।

यह विशाल सेना ४ जनवरी सन् १५९० को लाहौर से रवाना हुई और कन्दहार के लिए उसने बलूचिस्तान वाला रास्ता पकड़ा। बर्बर बिलूचियों को राह पर लाने का काम भी सेनापति को सौंपा गया था। हिदायत थी कि अगर वे शान्ति के साथ आत्मसमर्पण कर दें तो उनका देश उन्हीं के हवाले कर दिया जाए और कन्दहार को जीतने के लिये उनकी भी मदद ली जाए। पर अगर वे इसके लिए राजी न हों तो उन्हें कड़ी सजा देने का हुक्म था। खानखाना को हिदायत दी गई थी कि वह सिन्ध के मिर्जा जानी बेग के खिलाफ भी फौज की टुकड़ी भेजें, क्योंकि स्वामिभक्ति की कितनी ही कसमें खाकर और कितने ही कीमती तोहफे भेंट करके भी वह शाहंशाह के सामने खुद हाजिर होने में देर पर देर करता चला आ रहा था। उसके खिलाफ यह कार्रवाई सिर्फ एक चेतावनी के रूप में होने को थी। अगर इसके बाद वह घमण्डी सरदार उस चढ़ाई में खुद भी शामिल होने को तैयार हो जाए, या अकबर की सेवा में अपने को पेश करे तब तो उसे छोड़ दिया जाए अन्यथा उसे सजा दी जाए, पर कन्दहार से वापस होने के बाद ही। खानखाना के इस काम को आसान करने की गरज से उनकी जौनपुर की जागीर के बदले अब उन्हें, इस रास्ते में पड़ने वाली, मुलतान और भाखड़ की जागीरें दी गईं।

मुगल सेना जल्द ही मुलतान जा पहुंची। यहां से चोतियाली दर्रे के

सीधे रास्ते कन्दहार की ओर बढ़ना था। पर खानखाना ने मुलतान और भाखड़ की अपनी जागीरों को देखते हुए उधर जाना चाहा, और इसलिए उधर का लम्बा रास्ता पसन्द किया। संभवतः यही समय था जब उनके दिल में यह खयाल पैदा हुआ कि कन्दहार की ओर न बढ़कर वह अपनी सेना को घुमाकर मिर्जा जानी बेग की ओर बढ़ा दें। मुगल सेनापति ने अपनी यह राय शाहंशाह के सामने रखी जिन्होंने भी इसे पसन्द किया, और योजना बदल दी गई।

चतुर सेनापति ने योजनाओं में जो तबदीली की उसके उद्देश्य स्पष्ट हैं। कन्दहार की पहाड़ी जमीन पर होकर गुजरने के खतरों का खानखाना को पता था। इसके अलावा, कुछ दूसरी बाधाएं भी सामने थीं जिन्हें हल करना जरूरी था—यातायात की कठिनाइयां, मुगल मनसबदारों के बीच सहयोग का अभाव, घेरा डालने के अन्य साधनों के अलावा तोपखाने का घटियापन, और इन सबके साथ-साथ, एक दूरदेशीय पहाड़ी इलाके में लड़ सकने के अनुभव का अभाव।

दूसरे, कन्दहार की तुलना में सिन्ध को जीतना ज्यादा फायदेमन्द था, हालांकि जमीन वहां की भी उपजाऊ नहीं थी। अबुल फजल को लिखे गए खानखाना के पत्र से स्पष्ट है कि उन दिनों उनकी माली हालत भी अच्छी नहीं थी। दानशीलता की अपनी प्रकृति के कारण और कवियों को कीमती तोहफे देते रहने की वजह से उनकी जेब खाली रहने लगी थी।

अपने सेनापति के साथ अकबर का भी एक मत होना बिना कारण नहीं था। उन्होंने देखा था कि कन्दहार की चढ़ाई की सफलता सिन्ध और बलूचिस्तान के सरहदी सूबों की फतह पर निर्भर करेगी। इन दोनों अड्डों पर कब्जा हो जाने पर मुगल सेना का पिछला भाग सुरक्षित हो जाएगा। उत्तर-पश्चिम सीमान्त के विस्तार के लिए इन दोनों सूबों का सामरिक महत्त्व बाद को अंग्रेजों ने भी समझ लिया था। इसके अलावा, कन्दहार पर चढ़ाई करने के अकबर के इरादे की खबर पाकर वहां का बादशाह मुजफ्फर हुसेन भी अकबर की सेवा में अर्जियां और कीमती तोहफे पहुंचाने लगा।

खानखाना की चुनी हुई फोजों में युद्धकला में दीक्षित बहादुर ईरानी, बढ़ा के सैयद और कुछ हिन्दू थे, और साथ ही साथ एक सौ बहुत बड़े-बड़ हाथी और एक तोपखाना भी। मुलतान से वह मुश्किल से कुछ मील आगे बढ़े कि बिलूचियों ने घुटने टेक दिए और मुगल सेनापति को अपनी वफादारी और अपने सक्रिय सहयोग का विश्वास दिलाया। अब भाखड़ की बारी थी। पर मुगलों ने आगे का कूच शुरू भी नहीं किया था कि मिर्जा जानी ने खानखाना के पास शाहंशाह के प्रति अपनी वफादारी का पैगाम भेजा और कन्दहार की चढ़ाई के लिए एक दस्ता फौज देने का वादा किया। सिन्ध के बादशाह की चालबाजियों से खानखाना पूरी तरह वाकिफ थे और वह उसके झांसे में नहीं आए। उन्होंने उसके दूतों को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया और ठट्ठा की ओर उसके कदम और भी तेज हो गए। सिन्ध के उन दूतों को गिरफ्तार कर लेना बुद्धिमानी का काम सिद्ध हुआ, क्योंकि अगर वे वापस लौट पाते तो इधर की गुप्त फौजी बातें मिर्जा जानी को मालूम हो जातीं और उसे अपनी ताकत को बढ़ाने का वक्त मिल जाता।

मुगल सेना जब अपने लक्ष्यस्थान की ओर तेजी से बढ़ी चली जा रही थी तभी खबर मिली कि सेहवां के किले में बड़ी प्रचंड आग लगी है और वह इकट्ठा की हुई रसद बरबाद हो चुकी है। भाग्य की इस मदद से प्रोत्साहित हो खानखाना ने उस किले को घेर लेने के लिए दो सैन्य दल भेजे—एक स्थल मार्ग से और दूसरा जल मार्ग से। जल मार्ग से जानेवाला दल कमाल की तेजी से किले के पास जा पहुंचा। अपना रास्ता साफ पा, वह और भी आगे लाकी दर्रे तक बढ़ कर, जो कोटरी तालुके में सिन्धु नद के पश्चिमी तट पर था, उसपर कब्जा कर लेना चाहा। मामूली सी लड़ाई के बाद यह महत्वपूर्ण दर्रा मुगलों के हाथ लगा।

कुछ ही वक्त बाद अपनी बाकी सेना के साथ मुगल सेनापति भी सेहवां तक आ पहुंचे। उन्हें पता लगा कि मिर्जा जानी राजधानी से निकल चुका है। खबर थी कि वह एक बड़ी फौज लेकर मुगल सेना का मुकाबला करने के लिए उत्तर की ओर बढ़ रहा है और उसके साथ कितने ही युद्धपोत

(घराब) और एक जबर्दस्त तोपखाना है। खानखाना ने किले का घेरा उठा लिया और फिर, बढ़ते आने वाले दुश्मन का सामना करने के लिए नदी पार कर, उसके बांए किनारे बढ़ने लगे। रवाना होने से पहले उन्होंने इस बात का पूरा ख्याल रखा कि उनके पीछे से हमला न हो जाए।

मिर्जा जानी वुहिरी गांव पर आकर रुक गया, जो सिन्धु नद के तट पर ऐसी जगह था जहां प्राकृतिक रूप से ही अच्छी खासी किलेबन्दी थी। उसकी फौज यहीं जम गई।

दुश्मन को रास्ते में रोकने के लिए जानी ने अपने तीन सैन्यदल भेजे। इनमें से एक, जिसमें १२० शस्त्र-सज्जित युद्धपोत, २०० बड़ी-बड़ी जंगी नावें, और तीरन्दाज, बन्दूकची और एक बहुत बड़ी तोप थी, उनके कृपा-पात्र खुसरूखां के नेतृत्व में जलमार्ग से बढ़ी; और बाकी दो दल नदी के दोनों किनारों पर स्थलमार्ग से। तीनों सैन्य-दलों को एक दूसरे के साथ सम्पर्क कायम रखते हुए बढ़ना और दुश्मन पर एक साथ हमला करना था।

खानखाना मिटशाह गांव से तीन मील उत्तर-पूर्व पहुंच चुके थे। शत्रु के बढ़ते आने की खबर पाकर वे अपनी सेना को नदी-तट के एक ऐसे स्थान पर ले आए जहां दूर-दूर तक रेती ही रेती पड़ गई थी और नदी काफी तंग धारा में बह रही थी। यहां उन्होंने तट के किनारे-किनारे अपनी तोपों की रक्षा के लिए मिट्टी की एक दीवार-सी खड़ी कर ली, और हमले की प्रतीक्षा करने लगे।

३१ अक्टूबर, सन् १५९१ को दिन के तीसरे पहर शत्रु का जहाजी बेड़ा दिखाई पड़ा। मुगल फौजों पर खुश्की और पानी दोनों ही रास्ते हमला करने की मिर्जा जानी की पहली योजना तो अब सफल हो ही नहीं सकती थी। खुसरू इतना लोकप्रिय भी नहीं था कि स्थलसेना का सहयोग प्राप्त कर सकता। उसके उद्धत स्वभाव के कारण उस पर सभी खीझे हुए थे, और उन सबने इस मौके पर पूरी कसर निकाली और उसे कोई मदद न दे, उसे उसी के भाग्य पर छोड़ दिया। असलियत का उसे तब पता

लगा जब वह मुगल खीमे के नजदीक पहुंच चुका था। वापस लौट पड़ना अब संभव नहीं था। उसने हिम्मत नहीं हारी और सारी बाधाओं के बाव-जूद अपने बेड़े से ही मुगलों पर हमला करने का फैसला कर लिया। वह उस रेतीले तट तक बढ़ा चला गया जहां कि मुगल फौजें जमा थीं और वहां से गोलियां चलाना शुरू कर दिया। जबर्दस्त लड़ाई छिड़ गई।

खानखाना ने एक बहुत ही अच्छी जगह लड़ने के लिए चुनी थी। एक ओर पानी और रेतीला तट था; दूसरी ओर पानी और एक किला। मुगल तोपें दुश्मन के बेड़े की तोपों से कहीं ज्यादा भारी थीं। बेड़े पर उतनी वजनी तोपें ली ही नहीं जा सकती थीं। मुगल तोपों का स्थान भी सुरक्षित था। जैसे-जैसे दिन ढलता गया लड़ाई और भी प्रचण्ड होती गई।

रात को खानखाना को खबर मिली कि मुगलों पर आक्रमण करने के लिए मिर्जा जानी पश्चिम तट से बढ़ा आ रहा है। उसी दम कुछ फौजें उसे रोकने के लिए रात के अंधेरे में चुपचाप नदी पार कर गईं। कुछ ही देर बाद मिर्जा जानी की उस फौजी टुकड़ी ने जो नदी के बाएं तट पर बढ़ी आ रही थी आव देखा न ताव, और मुगल पड़ाव पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया। पर मुगल सेनापति ने इस तरह के हमलों से बचाव की पहले ही तैयारी कर रखी थी और मीर मामूम भाखरी की कमान में चुने हुए लोगों को तैनात कर रखा था। आक्रमणकारियों को आसानी से मार भगाया गया, और किले को कोई भी आंच नहीं आ पाई। इस बीच वह फौजी दस्ता जो मिर्जा जानी को रोकने के लिए भेजा गया था, कहीं भी उसका चिह्न तक न पा वापस लौट आया था, और रेतीले तट पर अपनी मोरचेबन्दी कर उसने पश्चिम से गोलियों की जब-र्दस्त बौछार शुरू कर दी।

इस प्रकार, नदी के दोनों तटों से होने वाले जवाबी हमलों के बीच फंसा खुसरू दिन निकलने तक किसी तरह अपने को मुश्किल से सम्भाले रख सका। सवेरे उसने एक बार फिर पूरी ताकत के साथ हमला शुरू

किया, और इस बार रेतीले तट पर जमा फौजों को ही उसने अपना लक्ष्य बनाया। पहले तो कुछ देर तक मुगल तोपखाने के गोले अपने लक्ष्य तक पहुंचने ही न पाए, क्योंकि उनके निशाने ज्यादा ऊंचे सधे हुए थे और इसलिए दुश्मन के जहाजों के ऊपर से ही वह निकल जाते थे, बल्कि कभी-कभी तो उलटे दूसरे तट पर जमी अपनी ही फौज पर जाकर गिरते थे। पर गलती ठीक कर ली जाने पर खानखाना की तोपों ने आक्रमणकारी बेड़े को ध्वस्त करना शुरू कर दिया। किन्तु सिन्धी भी अपनी प्राणरक्षा के लिए बड़े साहस के साथ लड़े।

पर इतनी मुश्किलों के खिलाफ भला कब तक वे लड़ते जा सकते थे। दोनों ओर से होने वाली गोले-गोलियों की बौछारों और सामने के मुगल बेड़े के बीच फंस कर वे तेजी से सब कुछ गंवाते जा रहे थे—आदमी भी, और लड़ाई का साज-सामान भी। यहां तक कि उनके यूरोपीय और मलाबारी विशेषज्ञ नौसैनिक भी जवाब दे चले थे। लाचार होकर खुसरू को वापस लौटना पड़ा। यह काम उसने होशियारी और बहादुरी के साथ किया। एक बार उसका पीछा भी किया गया और वस्तुतः वह पकड़ भी लिया गया, पर किसी तरह बच निकला। खानखाना ने हमेशा की तरह जीत की खुशियां मनाईं और एक बड़ी दावत दी और खुदा का शुक्र अदा किया।

मिर्जा जानी समझ चुका था कि अब उसके किले की लम्बी घेराबन्दी होगी। वह उसके लिए तैयारियां करने लगा। किसानों में लोकप्रिय होने के कारण रसद की ओर से वह निश्चिन्त था। वह जानता था कि अगर वह कुछ महीने और मुगलों का मुकाबला कर सका तो उसके बाद प्रकृति से भी उसे मदद मिलने वाली थी। सिन्ध की मूसलाधार वर्षा सारे नदी-नालों में बाढ़ ला देगी, जिससे आक्रमणकारियों को पीछे हटने के लिए मजबूर होना ही पड़ेगा।

विजय के दूसरे दिन मुगलों ने बुहिरी के किले के चारों ओर की खाई के सामने अपनी मोरचेबन्दी की। खानखाना ने खुद जाकर आसपास

की जगहों का मुआइना किया और खुद ही फैसला किया कि किस-किस को कहां और क्या काम सौंपा जाए। घेरा डाल दिया गया। पर रेत के उस परकोटे के अन्दर घुसने में उन्हें सफलता नहीं मिली।

दो महीने गुजर गए। घेरा जारी था, हालांकि वह बेकार साबित हो रहा था। सिन्धियों के मुकाबले शाही नौसेना कहीं ज्यादा कमजोर थी और इसलिए जलमार्ग से किले को जो मदद और रसद बाहर से पहुंच रही थी उसे नहीं रोका जा सका। मुगलों पर बराबर छापे डाले जा रहे थे और बाहर से रसद के उन तक पहुंचने का रास्ता काट दिया गया था।

कश्मीर जाते हुए रास्ते में अकबर को खानखाना का करुणाजनक पत्र मिला जिसमें उन्होंने तत्काल सहायता की मांग की थी। प्रचुर मात्रा में उसी दम सिन्ध के लिए सहायता भेज दी गई।

किन्तु वक्त पर मिली इस मदद से भी घेरा डालने वालों की दुर्दशा का अन्त नहीं हो सका। इलाका दुश्मन का था और रसद के सारे रास्ते बन्द थे। लम्बी अवधि के घेरे के लिए स्थिति किसी तरह भी अनुकूल नहीं थी।

खानखाना के लिए यह बहुत ही नाजुक वक्त था। उनकी सूझबूझ ही अब फिर उनके काम आई। अभी भी उनकी फौजी ताकत दुश्मन के मुकाबले ज्यादा थी। इसलिए उन्होंने एक तरकीब भिड़ाई जिससे कि जानी बेग को अपने अभेद्य दुर्ग से निकल कर बाहर आने के लिए मजबूर होना पड़े। अगर उनकी योजना सफल होती है और दुश्मन को आमने-सामने की लड़ाई के लिए मजबूर होना पड़ता है तो बुहिरी में जमकर बैठी हुई सिंध के निचले भाग की दुश्मन की फौज के साथ तो वह फिर आसानी से निपट ले सकेंगे।

बुहिरी के किले की दुर्गरक्षक सेना को भूखों मार डालने या किले पर कब्जा करने के निष्फल प्रयत्नों को मुगल सेनापति ने त्याग दिया और अपनी कुल सेना को पांच सैन्य-दलों में बांट डाला। एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े के साथ एक सैन्य-दल उत्तर में सेहवां का घेरा डालने के लिए भेजा

गया। तीन सैन्य-दल सिन्ध के निचले भाग के सामरिक महत्व के स्थानों को भेजे गए। और बाकी के पांचवें सैन्य-दल को लेकर खानखाना खुद दक्षिण की ओर जुन में अपना सदर मुकाम बनाने की नीयत से बढ़े, जो कि रेन नदी के किनारे बसा एक केन्द्रीय स्थान था। यहां से वह सिन्ध के निचले भाग में चारों ओर बिखरे हुए अपने सैन्य-दलों का सूत्र-संचालन कर सकते थे।

उनकी यह चाल बड़ी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। परिणाम भी उनकी आशाओं के अनुकूल ही हुए। मुगलों ने उस उपजाऊ प्रदेश को तहसनहस कर डाला और अपने लिए काफी रसद भी जुटा ली। दुश्मन को अपनी किलेबन्दी से बाहर निकलने और खुले मैदान में आकर बारा-न्यारा करने के लिए मजबूर कर दिया गया।

उत्तर की ओर बढ़ने वाली मुगल फौजें इस बीच अपने बेड़े के साथ सेहवां पहुंच चुकी थीं। वहां दुश्मन की जो भी बची-खुची फौज थी उसकी रसद का रास्ता सिंध के निचले भाग के साथ कट चुका था और इसलिए वह बड़ी ही तंगी में एक-एक दिन काट रही थी। उसने मिर्जा जानी से मदद मांगी। जानी ने अपना खीमा छोड़ नदी को पार किया और उत्तर की ओर बढ़ा। खानखाना तो कब से इसी मौके की ताक में थे। ज्यों ही जानी ने बुहिरी छोड़ा, उन्होंने अपना एक फौजी दस्ता वहां भेज दिया। मुगलों ने वहां पहुंच कर उस जबर्दस्त किलेबन्दी को तोड़-फोड़ कर बिल्कुल नष्ट कर डाला जिसके कारण ही मिर्जा जानी इतने लम्बे वक्त तक बचा रहा था। एक अच्छी-खासी फौज वहां तैनात कर दी गई।

मिर्जा जानी के सेहवां की ओर बढ़ने की खबर पाते ही, अपने वकील दौलत खां लोदी के कमान में खानखाना ने एक जबर्दस्त फौजी दस्ता रवाना कर दिया।

जानी बेग को मुगलों की नई चाल का गुमान तक नहीं था। वह तो इसी घमण्ड में था कि उसकी ताकत कहीं ज्यादा बड़ी है और इसलिए उसका दुश्मन इस तरह का दुस्साहस कर ही नहीं सकता। दौलत खां के

फौजी दस्ते की तेज रफ्तार और दो दिन पहले सेहवां सैन्य-दल से उसके जा मिलने की खबर विश्वास करने योग्य नहीं थी। लेकिन बढ़ती आने वाली फौजों की उड़ाई हुई धूल जब नजर आने लगी तब उसे लड़ाई के लिए तैयार हो जाना पड़ा।

मुगलों के फौजी दस्ते लड़ाई की ही व्यूह-रचना में थे। दोपहर के करीब दोनों तरफ की फौजों की एक-दूसरे पर नजर पड़ी। खुसरू खां के कमान में दुश्मन के अग्रभाग ने एक झपट्टे में वार कर दिया और अपने विरोधियों को पराजित कर डाला। सिंधियों की इस प्रारम्भिक सफलता से मुगल फौजों में घबड़ाहट फैल गई। खुसरू भी अपने सामने के दुश्मन का सफाया करने के बाद अब मुगलों के दाहिने हिस्से पर टूट पड़ा और उसे हरा दिया।

राजा टोडरमल के बेटे धनबहादुर ने तलवार लिए सामने आकर मिर्जा जानी को युद्ध के लिए ललकारा। मिर्जा जानी का धाय-भाई अरब बहादुर नकली मिर्जा जानी बनकर उसके साथ बड़ी खूंख्वारी के साथ लड़ा। लड़ाई इतनी उत्तेजनापूर्ण थी कि थोड़ी देर के लिए तो और सभी लोग लड़ना भूलकर इस प्रचण्ड द्वंद्व-युद्ध को देखने के लिए आसपास इकट्ठा हो गए। लड़ते-लड़ते राजा के माथे में एक भाला लगा और तभी पीछे से आकर मिर्जा जानी ने उसे घोड़े से गिरा दिया। बहादुर नौजवान, अपने कुछ सहायकों की मदद से, फिर भी लड़ता ही चला गया। पर घाव गहरा था और खून की धारा बहती ही चली जा रही थी, जो उसके लिए घातक सिद्ध हुई। मुगल सेना का अग्र भाग और दाहिना हिस्सा टूट फूट ही चुका था और वह काफी मुसीबत में थी, कि मलिक मुहम्मद के हमले से उसके बाएं हिस्से की भी जबर्दस्त हार हुई। बहुत से सिन्धी मुगल खीमे पर टूट पड़े और लूटखसोट शुरू कर दी।

लड़ाई का यह सबसे ज्यादा नाजुक दौर था। पर भाग्य ने मुगलों की मदद की। मुगलों के पराजित वाम पक्ष ने जब यह देखा कि दुश्मन के कुछ सिपाही लूटखसोट में लगे हुए हैं, तब वह आगे बढ़ गया। उसी वक्त

अचानक धूल भरी आंधी उठी और उसकी आड़ में उसने दुश्मन पर हमला कर दिया। सेना का मध्य भाग भी उसकी मदद के लिए आ पहुंचा। इस सम्मिलित फौज को लेकर वाम पक्ष के सेनानायक ने दुश्मन को करारी हार दी। वढ़ते हुए अंधेरे ने उसकी विजय को और पक्का कर दिया। मुगलों के सम्मिलित आक्रमण के कारण जानी की फौज के पांव उखड़ गए और अपने अनुयायियों की एक वहुत वड़ी संख्या को हताहतों के रूप में पीछे छोड़ वह भाग खड़ा हुआ।

एक नाव में चढ़ कर जानी दक्खिन की ओर वढ़ा। जव उसे पता लगा कि वुहिरी भी मुगलों के अधिकार में है तव वह घवड़ा गया, और अन्त में अपनी पराजय के स्थान से ४० मील दूर उनरपुर की ओर उसने अपनी नाव वढ़ा दी।

उनरपुर के तीन ओर नदी की धारा का घुमाव था और सिर्फ एक ही ओर से वहां स्थल मार्ग से पहुंचा जा सकता था। हिफाजत की दृष्टि से मिर्जा जानी के लिए वह सवसे अच्छी जगह थी। यहां एक वार फिर उसने अपने चारों ओर मिट्टी की रक्षात्मक दीवालें खड़ी कर लीं। किसान उसके साथ थे और उसका वेड़ा अभी भी मजवूत था, इसलिए रसद की चिन्ता नहीं थी। वरसात भी आने ही वाली थी जो उसके लिए और भी फायदेमन्द थी।

मुगल सेनापति ने उनरपुर को घेर लिया। वुहिरी के घेरे से वह काफी सवक सीख चुके थे, और इसलिए इस घेराबन्दी को सफल वनाने के लिए जितना भी कुछ किया जा सकता था, उन्होंने किया। अपनी जवानी के जोश में खानखाना ने कसम खाई कि जव तक वहां की किलेवन्दी ढा नहीं दी जाती, वह न हजामत वनवाएंगे और न गुसल करेंगे।

घेरा एक महीने तक चला। कोशिशें करते-करते खानखाना थक गए पर उनकी मुराद पूरी नहीं हुई। वरसात ने आकर मुगलों की स्थिति को और भी कमजोर बना दिया। रसद की कमी ने मुसीवतें और वढ़ा दीं। घवड़ा कर खानखाना ने एक वार फिर अकवर के पास फरियाद

पहुंचाई, और मुसीबत की मारी उन फौजों की मदद के लिए फौरन ही नई फौजें, रसद और रुपया तेजी के साथ पहुंचाया गया। वक्त पर मदद आ जाने से घेरा डालने वालों का उत्साह बढ़ गया और घेरा फिर सख्त कर दिया गया।

अब पासा पलट गया था। अपनी किलेबन्दी की अभेद्यता में मिर्जा जानी का विश्वास डिगने लगा। चढ़ी हुई नदी के तटों के डूब जाने के कारण उसकी जगह तंग हो गई थी। बलुही मिट्टी की उसकी दीवालें घेरे का मुकाबला करने लायक नहीं रह गई थीं। तीन ओर से 'लहरों की फौजों' से और चौथी ओर से मुगलों की फौजों से घिर कर उसका मोरचा कमजोर पड़ गया था। महामारियों का प्रकोप बढ़ गया था जिसने कितनों की ही जानें लीं। नदी पर भी उसका कब्जा ढीला पड़ने लग गया था और रसद ठीक वक्त पर नहीं आ पा रही थी। प्रकृति और शत्रु दोनों की ही शक्ति उसके प्रतिकूल हो जाने पर उसने समझौते की बातचीत शुरू की और उसके दूत सुलह की शर्तें लेकर खानखाना के पास पहुंचे।

खानखाना नीचे लिखी शर्तों पर सुलह करने के लिए तैयार हुए :

(१) सेहवां का किला, मय २० युद्ध-पोतों के, मुगलों के हवाले किया जाए।

(२) मिर्जा जानी अपनी बेटी की शादी खानखाना के सबसे बड़े बेटे मिर्जा इरिज के साथ करने का वादा करे।

(३) सिन्ध का बादशाह मिर्जा जानी बरसात बीतने पर शाहंशाह के दरबार में खुद हाजिर होकर उनकी अधीनता स्वीकार करे।

सुलह के शर्तनामे पर दस्तखत हो जाने के बाद घेरा उठा लिया गया। मुगल फौजें बरसात के महीनों को सेहवां के किले में बिताने के लिए राजी हो गईं। मिर्जा जानी को, अपनी राजधानी ठट्ठा में बरसात के बाकी तीन महीने बिताने के बाद, शाहंशाह के दरबार में हाजिर होना था जबकि मुगल सेनापति ने उसको पंचहजारी का मनसब दिलाने का वादा किया था।

पर बरसात बीत गई, और सिन्ध का बादशाह हाजिर नहीं हुआ। उसने टालमटोल शुरू की जिससे उसके इरादों के बारे में सन्देह होने लगा। वह दगा न दे पाए, इस इरादे से मुगल सेनापति ने तीन सैन्य-दल रवाना कर दिए। वह खुद भी इस बहाने, कि वह लाहौरी बन्दर और समुद्र देखना चाहते हैं, कुछ ही दिन बाद उधर रवाना हो गए और बुहिरी में अपनी उन फौजों से जा मिले।

पर मिर्जा जानी भी कम उस्ताद नहीं था। शाही दरबार में हाजिर होने में विलम्ब का कारण उसने यह बताया कि तन्दुरुस्ती बिगड़ जाने की वजह से वह लाहौर की मुश्किल और लम्बी यात्रा करने में असमर्थ था। जब उसे पता लगा कि मुगल फौजें उसकी राजधानी की ओर बढ़ी आ रही हैं तब ठट्ठा छोड़ उसने ६ मील दूर रेन नदी के किनारे फतेहबाग में अपना पड़ाव डाल दिया। ऐसा उसने खानखाना को इस धोखे में रखने के लिए किया था कि वह लाहौर के रास्ते पर है। वस्तुतः वह पुर्तगालियों की प्रतीक्षा कर रहा था जिन्होंने उसकी मदद का वादा किया था।

पर इन चालाकियों से वह ज्यादा वक्त तक अपनी आजादी कायम नहीं रख पाया। मुगलों ने पुर्तगालियों को समुद्र में खदेड़ देने के बहाने अपना बढ़ाव जारी रखा और जल्द ही फतेह बाग जा पहुंचे। घबड़ा कर मिर्जा अपने घोड़ों पर चढ़ आगे बढ़ आया और वफादारी की कसमें खाता हुआ खानखाना से मिला। इस बार मुगल सेनापति ने कोई खतरा न उठा, अपनी दोस्ती का सबूत देने के लिए, उसे अपना बेड़ा उनके हवाले करने को कहा। मिर्जा जानी के लिए कोई दूसरा चारा नहीं रह गया। इसके बाद खानखाना ठट्ठा के लिए रवाना हो गए।

ठट्ठा में खानखाना ने अपनी उदार प्रकृति के कारण अपनी सारी चीजें गरीबों और जरूरतमन्दों को बांट दीं। मशहूर लाहौरी बन्दर देखने के बाद वह फतेहबाग लौट आए। फिर शाहंशाह अकबर से वापस लौटने का हुक्म पाकर वह मिर्जा जानी को साथ ले जल्द ही लाहौर के लिए रवाना हो गए।

४

सिन्ध से लौटने पर खानखाना छः महीने तक दरबार में रहे। इस बीच शाहंशाह ने दक्खिन पर चढ़ाई करने का फैसला कर डाला और शाहजादा दानियाल के प्रधान सेनापतित्व में एक बहुत बड़ी सेना तैयार की। खानखाना शाहजादे के अभिभावक और वास्तविक सेनापति नियुक्त किए गए।

पर फौजें कूच शुरू ही करने जा रही थीं कि शाहंशाह ने अपनी योजना बदल दी। उन्होंने शाहजादा मुराद को भी, जो तब गुजरात का सूबेदार था, हुक्म दिया था कि इस चढ़ाई में शामिल होने के लिए इसी बड़ी सेना में आ मिले। किन्तु इस योजना में खतरा यह था कि अगर दो शाहजादे स्वतंत्र रूप से सेनापतित्व करते हैं तो उनके बीच झगड़ा पैदा हो सकता है। उन्होंने खानखाना के साथ सलाह-मशविरा करके दानियाल को इस सेना से हटा कर पंजाब का अख्तियार दे दिया। अकेले खानखाना को ही बरसात खत्म होने पर अविलम्ब दक्खिन जाने का हुक्म मिला।

भिलसा की अपनी जागीर पर थोड़े दिन के लिए रुकते हुए खानखाना दक्खिन के लिए रवाना हुए। रास्ते में उन्हें खबर मिली कि बुरहान निजामुल मुल्क की मृत्यु हो गई है और आदिलशाह ने इस स्थिति का फायदा उठाकर अहमदनगरपर हमला कर दिया है। निजामुल मुल्क के बड़े वजीर मियां मनभू ने अहमद नाम के एक छोकरे को निजामशाही गद्दी पर बिठा दिया था और दूसरे दावेदारों के झगड़ा-फसाद करने पर शाहजादा मुराद से मदद मांगी थी।

खबर उत्साहजनक थी, पर सेनापति ने सावधानी से काम लिया। उन्होंने जरा भी जल्दबाजी नहीं दिखलाई। उन्होंने देखा कि जब तक खान देश जैसा महत्वपूर्ण सूबा उनका साथ नहीं देता तब तक और आगे

वढ़ना गलत होगा । इसलिए उन्होंने वहां के राजा अली खां को एक खत लिखा और उसे मुगल शाहंशाह की अधीनता स्वीकार करने, और खुतवे में उन्हीं का नाम पढ़वाने तथा धन-जन से मदद करने की मांग की । बदले में उसकी रक्षा और शाहंशाह की कृपादृष्टि का भरोसा दिलाया गया। इस खत का ठीक असर हुआ । राजा अली खां ने सब शर्तें मंजूर कर लीं और बुरहानपुर के नजदीक वह खानखाना से आकर मिला । मुलाकात सौहार्दपूर्ण रही, और दोनों ओर से एक-दूसरे को कीमती तोहफे भेंट किए गए । खानखाना की सिफारिश पर शाहंशाह ने राजा को यह सूबा जागीर के रूप में दे दिया । इस तरह खान देश मुगल साम्राज्य का एक संरक्षित सूबा बन गया। सेनापति के इस कारनामे से शाहंशाह बहुत ही खुश हुए, क्योंकि खान देश दक्खिन की कुंजी था और उसे साम्राज्य में मिलाकर खानखाना ने अपने को एक कुशल राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी सेनापति सिद्ध किया था ।

पर खानदेश की राजनैतिक विजय खानखाना को बहुत ही महंगी पड़ी। शाहजादा मुराद को पहले ही दक्खिन पर चढ़ाई करने की हिदायत भेजी जा चुकी थी । मियां मनभू ने यह वादा किया था कि अगर वह उसकी मदद करे तो अहमदनगर का किला वह उसे सौंप देगा । इससे मुराद को जल्द से जल्द उधर बढ़ जाने के लिए और भी बढ़ावा मिला । ३० अक्टूबर सन् १५९४ को वह अहमदाबाद से रवाना हुआ और सात महीने तक भड़ौंच में खानखाना के आने का इन्तजार करता रहा । आखिर वह ऊब उठा । विजय की सम्भावना उसे लुभा रही थी । जून सन् १५९५ में वह यह मानकर चल पड़ा कि उत्तरी सेना भी जल्द ही उससे आ मिलेगी। पर जब उसे खानखाना की तरफ से होने वाली देर का, और खान देश की ओर उनके बढ़ जाने का पता लगा तब उसे बहुत बुरा लगा और उसने उन्हें एक कड़ा खत लिख डाला ।

खानखाना ने अपनी योजना नहीं बदली । शाहजादा के खत के जवाब में उन्होंने उसे समझाने की कोशिश की कि दक्खिन की विजय के लिए

खानदेश का मिल जाना बड़े काम का होगा, और चूंकि वहां का राजा मुगलों का साथ देने के लिए तैयार दिखाई देता है, इसलिए तब तक शाहजादा के लिए इन्तजार करना ही ठीक होगा। उन्होंने शाहजादा को यह भी नसीहत दी कि यह वक्त वह शिकार खेलने में बिताएं और अधीर न हों।

शाहजादा की तमन्ना यह थी कि जीत का सेहरा उसी के सिर बंधे। उसके गलत किस्म के सलाहकारों ने भी उसे बढ़ावा दिया, और वह अकेला ही चल पड़ा। इतनी जल्द उसके चल पड़ने की खबर खानखाना को, राजा अली खां के साथ गुजरात जाते वक्त, मिली। स्थिति को और बिगड़ने न देने की गरज से वह भी पूरी तैयारी के साथ आगे बढ़े, और अपनी सेना को पीछे छोड़ अहमदनगर के नजदीक चांदोर में शाहजादे से जा मिले।

पर खानखाना को अपनी आशाओं के विपरीत, वहां का वातावरण अपने प्रति उपेक्षापूर्ण दिखाई दिया। शाहजादे से मिलने की उन्होंने दरखास्त की, पर मुराद ने उसे ठुकरा दिया। बल्कि उन्हें और भी लांछित करने की नीयत से वह अपना खीमा वहां से उठा कर दूर ले गया। आखिर जब उसने उनसे मुलाकात की, खानखाना और राजा अली खां दोनों के साथ उसका सलूक अच्छा नहीं रहा। इस तरह दोनों के आपसी सम्बन्ध बिगड़ गए। सेना जब अहमदनगर का किला फतह करने के लिए आगे बढ़ी, तब 'मुगल फौजों के बीच एका था ही नहीं।'

बुरहान द्वितीय की मृत्यु के बाद अहमदनगर राज्य में काफी उलझनें पैदा हो गई थीं। अन्दरूनी झगड़े सन् १५९५ में अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके थे। राज्य के अमीरों में चार दल थे जिनमें से हरएक को कुछ शक्तिशाली अमीरों का समर्थन मिला हुआ था और हरएक ने गद्दी का अलग-अलग हकदार खड़ा कर रखा था। अन्त में, पिछले बादशाह की बहन और अली आदिलशाह प्रथम की विधवा, चांद बीबी को अपने नुमाइन्दे बहादुर को वाकायदा बादशाह मनवा लेने में सफलता मिल गई। पर चूंकि वह नाबालिग था इसलिए उसकी ओर से प्रतिनिधि-शासक के रूप में वही

राजसत्ता संभाले हुए थी। उसने किले की रक्षा की तैयारी शुरू कर दी।

१७ दिसम्बर सन् १५९५ को संयुक्त मुगल सेना शहर के नजदीक आ पहुंची और किले का घेरा शुरू हो गया। चांद बीबी के जोशीले नेतृत्व में दुर्गरक्षक सेना ने कस कर मुकाबला किया और मुगल फौजों के बीच के आपसी झगड़ों से फायदा उठाया। उसने अपने 'अमीरों' से, सारा झगड़ा भूल इस संकट के समय एक होकर मुकाबला करने की, अपील की। बीजापुर और गोलकुण्डा की ओर बड़ी तेजी से दूत भेजे गए और उन राज्यों के सुलतानों से भी प्रार्थना की गई कि सब मिलकर सबों के उस दुश्मन का मुकाबला करें। उसकी यह प्रार्थना उसी दम स्वीकार भी कर ली गई।

मुगल सेना ने किले पर विजय पाने के लिए कुछ भी उठा न रखा। घेरेबन्दी की कार्रवाई पूरी प्रचण्डता के साथ रातदिन चलती रही। पर चांद बीबी की बहादुरी ने दुश्मनों के दांत खट्टे कर दिए और उनकी सारी कोशिशें बेकार गईं।

१९ दिसम्बर को रात के वक्त अभंग खां ने, जो अबीसीनिया-निवासी एक अमीर था और चांद बीबी की मदद के लिए आया था, पूरबी खाइयों पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया जहां कि खानखाना की फौजें उसी दिन तैनात हुई थीं, और दुर्गरक्षक सेना की मदद के लिए अन्दर घुसने की कोशिश की। उसे खबर मिली थी कि किले के पूरबी हिस्से की ओर कोई घेरा नहीं है। पर, आने पर उसे पता लगा कि अब वहां भी घेरा पड़ चुका था। फिर भी उसने अन्दर घुसने की कोशिश की, और जबर्दस्त लड़ाई हुई। उसके बहुत अधिक आदमी लड़ाई में काम आए, पर अपने कुछ लोगों के साथ किले के अन्दर घुसने में उसे कामयाबी हासिल हो गई। अगर मुगलों ने पूरी ताकत से हमला करके उनका पीछा किया होता तो अभंग खां के साथ-साथ वह भी किले में दाखिल हो जाते। पर ईर्ष्यालु मुराद यह बरदाश्त नहीं कर सकता था कि फतह का सेहरा खानखाना के सिर बंधे। उसने साथ नहीं दिया, और एक स्वर्ण-अवसर हाथ से निकल गया।

दो महीने से भी ज्यादा वक्त तक घेरा पड़ा रहा, पर कोई नतीजा न निकला। मुगलों की मुश्किल बढ़ाने वाली दूसरी बात यह हुई कि आदिल-शाह, कुतुबशाह और निजामशाही राज के दूसरे अमीरों की एक सम्मिलित सेना बीजापुर की सरहद पर शाह दुर्ग में इकट्ठी हुई और किले के घेरे को तोड़ने के लिए उन्होंने मिल कर आक्रमण करने की ठानी। अब जाकर शाहजादा मुराद को अपने ऊपर आए हुए संकट का गुमान हो पाया और उसने सेनाध्यक्षों की मंत्रणा-सभा बुलाई। खानखाना और दूसरे सेना-ध्यक्षों ने अविलम्ब कार्रवाई की जाने पर, और दुर्गरक्षक सेना को बचाने के लिए दुश्मन के बढ़ने से पहले ही अन्तिम आक्रमण कर देने पर जोर दिया।

फलस्वरूप किले के बुर्ज के नीचे पांच सुरंगें लगाई गईं, जो सबकी सब किले के एक ही ओर थीं। उनमें बारूद भर दी गई और ऊपर से उन्हें पत्थर और चूने से बन्द कर दिया गया—सिवा एक पतले से रास्ते के, जिसमें होकर आग को बारूद तक पहुंचाना था। यह सारी कार्रवाई २० फरवरी १५९६ तक पूरी कर डाली गई। पर एक दुर्भाग्यपूर्ण और अजीब ढंग के विश्वासघात के कारण विजय की आशाएं धूल में मिल गईं। ख्वाजा मुहम्मद खां उनकी फौज का एक ईरानी अफसर था जिसके दिल पर किले के अन्दर घिरी हुई फौजों की बहादुरी ने जबर्दस्त असर किया था। रात के अंधेरे में उसने, घिरे हुए दुर्गरक्षकों को उन पर आने वाले खतरे की खबर किसी तरह पहुंचवा दी। दुर्गरक्षक सेना फौरन ही उन सुरंगों को दुरुस्त करने में लग गई। सवेरा होते-होते दो सुरंगों को खाली करके वे उनमें पानी भर चुके थे, और बाकी सुरंगों की तलाश कर रहे थे।

२१ फरवरी को तड़के सवेरे शाहजादा मुराद, बिना खानखाना को कुछ बताए सुरंगों के नजदीक आए और उन्हें उड़ा देने का हुक्म दिया। तीसरी सुरंग सबसे बड़ी थी और इसलिए पहले उसी को उड़ाने के लिए पलीता लगाया गया। दक्खिनियों ने उसे खाली करना तभी-तब शुरू किया था और बारूद का धड़ाका होने पर उनमें से कई मारे गए। किले में घुसने के लिए घेरा डालने वालों को लगभग ५० गज चौड़ा रास्ता

मिल गया। पर मुगल नेताओं को यह तो पता नहीं था कि दुश्मन को उनका भेद मालूम हो चुका है, इसलिए वे दूसरी सुरंगों के उड़ाने के इंतजार में रहे। इसके कारण किले में उनके घुसने में देर हुई, और इस मौके से फायदा उठा कर दुर्गरक्षक सेना आगे बढ़ आई। उसने खाई में अग्निबाण, बारूद और दूसरी दहनशील चीजें फेंकनी शुरू कर दीं। अपनी तोपों को भी वह किले की दीवार में पड़ी दरार की सीध में ले आए। तीसरे पहर, जबकि मुगल सेनापतियों को इस स्थिति का पता लगा, उन्होंने किले पर आप हमला करने की कोशिश की, पर दुर्गरक्षक फौज उसका मुकाबला करने की कहीं अच्छी स्थिति में थी। आंखों-देखे एक वर्णन के अनुसार, "२ बजे से लेकर सूरज डूबने तक उस टूटी हुई जगह पर मुगलों के वार पर वार होते चले गए, पर हर बार उन्हें पीछे धकेल दिया गया, और उनके मारे गए सिपाहियों की लाशों से खाई पूरी तरह भर गई।" रात होने पर मुगलों को एक बहुत बड़ा मौका चूक कर वापस लौटने के लिए मजबूर होना पड़ा। अगले दिन सवेरे जब फिर से तैयारी करके वे आखिरी हमले के लिए आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि दीवार फिर से चुनी जा चुकी थी। बहादुर चांद बीबी ने रातों-रात उस टूटी दीवार की खाली जगह को न सिर्फ ईंट-चूने से बल्कि दुश्मन की लाशों से भी पाट दिया था।

मुगलों की रसद चुक चुकी थी और दुर्गरक्षकों की मदद करने के लिए जो फौजें आ रही थीं वह बीर तक आ पहुंची थीं। इससे मुगल फौजों का हौसला पस्त हो गया। दोनों ही पक्ष थक कर चूर-चूर हो चुके थे और सुलह के लिए बेचैन थे। इसलिए, जब समझौते की बात चलाई गई तो दोनों ही पक्षों ने उसका स्वागत किया। बहादुर को मुगल सम्राट के अधीन निजामशाह स्वीकार कर लिया गया और बरार मुगलों के हवाले किया गया। २३ फरवरी को घेरा उठा लिया गया। मुगलों की दक्खिन-विजय का पहला पर्व समाप्त हुआ।

खानखाना के अगले ग्यारह महीने बरार पर कब्जा करने, अधीनता स्वीकार न करने वाले अमीरों पर काबू पाने और शांति और व्यवस्था

स्थापित करने में बीते। उन्होंने अपना सदर मुकाम एक ऐसी केन्द्रीय जगह पर कायम करने की जरूरत महसूस की जहां से इस इलाके का शासन ठीक से संभाला जा सके। इस मतलब से वह शाहजादे को सूबे के बिल्कुल अन्दर तक ले गए और कई स्थानों का निरीक्षण करने के बाद उन लोगों ने एक स्थान चुना, जो बालापुर से आठ मील दक्खिन था। नींव डाल दी गई और सेनापति ने इस जगह पर बसाए गए शहर शाहपुर को अपना सदर मुकाम बनाया। यहीं शाहजादे के साथ राजा अली खां की पोती की शादी हुई जिसे चतुर खानखाना ने मुख्यतः राजनैतिक दृष्टि से ही ठीक कराया था। साम्राज्य के हित की दृष्टि से, और दक्खिन की विजय के लिए, राजा अली खां की दोस्ती बहुत जरूरी थी, और शाहजादे के बरताव से उसे चोट पहुंचाई जा चुकी थी। खानखाना ने देखा कि रक्त के सम्बन्ध से ही अब उस घाव को भरा जा सकता था और आपसी सहयोग को स्थापित करने का यही एकमात्र रास्ता था।

मुगलों के आविर्भाव से दक्खिन के शासक घबड़ा गए थे। दक्खिन को जीतने में मुगलों को सफलता मिल जाने पर उनकी अपनी जो दुर्दशा होगी उसे वह साफ देख पा रहे थे। इसलिए चांद बीबी ने जब उनकी देशभक्ति की भावना को उत्तेजित किया था तब वे उसी क्षण तैयार हो गए थे। शीघ्र ही बीजापुरी, कुतुबशाही, निजामशाही और बीदरशाही फौजों की लगभग ६०,००० सिपाहियों की एक संयुक्त सेना ने दुश्मन को मार भगाने के लिए बरार की ओर धावा बोल दिया था।

इस संयुक्त मोरचे की खबर खानखाना को जालना में मिली। विभिन्न चौकियों को यह हुक्म भेज कर कि वे अपनी-अपनी टुकड़ियां छावनी के लिए रवाना कर दें सेनापति स्वयं शाहजादे से सलाह-मशविरा करने शाहपुर आए। उनका विश्वासपात्र नया मित्र राजा अली खां पहले से ही अपने बेटे के दामाद के पास मौजूद था। काफी लम्बी बातचीत के बाद तय हुआ कि कुछ और अमीरों को साथ लेकर खानखाना पहले कूच कर दें और शाहजादा उनके बाद उधर के लिए रवाना हो जाएं। इस तरह

मुगलों, राजपूतों और खान देश के सिपाहियों की एक मिली-जुली सेना लेकर खानखाना तेजी से आगे बढ़ गए और आष्ठी में गोदावरी के तट पर अपना पड़ाव डाला।

दक्खिनी फौजें आदिलशाही सेनापति सुहैल खां की प्रधान सेनाव्यक्षता में सोनपत के कस्बे तक बढ़ गई थीं। उन्होंने जब मुगलों के भी बढ़ने की ख़बर सुनी तो वह रुक गईं और लड़ाई की व्यूह-रचना में तैनात होकर दुश्मन का इन्तजार करने लगीं। अपनी परम्परा के अनुसार निजामशाही फौजें मध्य भाग में रहीं और दक्षिण और वाम पक्षों को आदिलशाही और कुतुबशाही फौजों ने सम्भाला। बीदरशाही फौज भी वामपक्ष में शामिल हुई। मुगलों ने भी अपनी सेना की व्यूह-रचना कर ली थी। उसके मध्य भाग में खानखाना खुद थे, दक्षिणी भाग में शेर ख्वाजा और वाम भाग में राजा अली खां। अग्रभाग राजपूत संभाल रहे थे।

सिवा छिटपुट होनेवाली हाथापाई के, पन्द्रह दिन तक किसी भी क्षेत्र में जम कर कोई लड़ाई नहीं हुई। २६ जनवरी, सन् १५९७ को सवेरे ९ बजे मुगलों ने घुटने-भर पानी में नदी पार करके दूसरे तट पर जमे दुश्मन पर हमला कर दिया। दोनों ओर से गोलियों की बौछार हुई। जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया, दुश्मन नजदीक आ चला। तीसरे पहर तीन बजे तक जम कर मुठभेड़ हो गई। दक्खिनियों की तादाद ही ज्यादा नहीं थी, उनकी तोपें भी ज्यादा बड़ी थीं, इसलिए लड़ाई में उन्हीं का जोर ज्यादा दिखाई दे रहा था। पर मुगल सेना के अग्रभाग के राजपूत बहादुरी से लड़े और उन्हें पीछे नहीं हटाया जा सका।

सूरज डूबते-डूबते मुगलों ने अपने दुश्मन पर प्रचण्ड हमला किया। निजामशाही और कुतुबशाही फौजोंको जरूर हटकर अपनी रक्षा-पंक्ति पर आ जाना पड़ा, पर बीजापुरी फौजें सुहैल खां के जोशीले नेतृत्व में टस से मस न हुईं। बल्कि जब उन्होंने दुबारा हमला किया तो उलटे मुगल फौजों में ही किसी हद तक भगदड़ मच गई।

बीजापुरी तोपखाने का जवाब देने की गरज से खानखाना ने अपना

सैन्य-दल एक ओर को थाड़ा हटा लिया, और राजा अली खां से भी वैसा ही करने को कहा। गलती से राजा अली खां हट कर ठीक उसी मध्य भाग में आ गया जिसे तभी-तब खानखाना ने खाली किया था। इस गलती की वजह से राजा को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। चारों ओर से उस पर हमला हुआ और आखिर तक लड़ते-लड़ते भी उसे अपने विश्वस्त साथियों के साथ-साथ, प्राण गंवाने पड़े।

मध्य भाग पर कब्जा कर लेने पर दक्खिनियों ने गलती से यह समझ लिया कि लड़ाई उन्होंने फतह कर ली। उन्होंने खुलकर लूटमार शुरू कर दी। लूट के बहुत-से माल से लदे हुए वह अपने पड़ाव पर जब वापस लौटे तब उन्हें गुमान तक न था कि दुश्मन नज़दीक ही है।

ठीक यही गलती मुगलों से भी हुई। रात अंधेरी थी और लड़ाई का मैदान बिल्कुल ही नजर नहीं आता था। उन्होंने भी समझा कि दुश्मन भाग खड़ा हुआ है और फतह अपनी ही हुई है। इत्मीनान के साथ वह भी अपने खीमों में आराम करने लगे। अगले दिन सवेरे क्या होने को है, इसका उन्हें भी कोई अन्दाज नहीं था।

पर दोनों ही पक्षों का भ्रम जल्द टूट गया। दक्खिनियों के पड़ाव में रोशनी देख मुगलों को सन्देह हुआ। गुप्तचरों ने आकर खबर दी कि अपनी फौज के साथ सुहैल खां नजदीक ही अपने खीमे में है। मुगल सेनापति ने ऊंचे से ऊंचे स्वर में तुरही बजाने का हुक्म दिया ताकि सम्मिलित आक्रमण के लिए सारी बिखरी हुई फौजें इकट्ठी हो जाएं। सवेरे की रोशनी होते-होते मुगलों की फौज पूरी ताकत के साथ दुश्मन का मुकाबला करने के लिए तैयार हो गई। उधर सुहैल खां ने भी प्रचण्ड युद्ध की तैयारी कर ली।

मुगल फौजें रात भर प्यासी रही थीं। सवेरा होते ही वह नदी की ओर दौड़ पड़ीं। सुहैल के लिए यह बड़ा अच्छा मौका था। २५००० सिपाहियों की अपनी जबर्दस्त फौज लेकर वह अचानक मुगलोंपर टूट पड़ा, और पिछले दिन के मुकाबले भी कहीं अधिक प्रचण्ड युद्ध हुआ। अपनी

फौजों की तादाद दुश्मन के मुकाबले कहीं कम देख खानखाना के वकील दौलत खां लोदी ने अपने स्वामी से कहा—"इतनी मुश्किलों के बीच सिर्फ ६०० सिपाहियों की फौज को लेकर मर-मिटने से क्या फायदा ?" सेनापति ने पलट कर जवाब दिया—"दिल्ली को भूल गए?" तब दौलत खां ने कहा—"अगर इतनी मुश्किलों के बावजूद बचे रहते हैं तो हमें सौ दिल्ली मिल गईं।"

बड़ा के बहादुर सैयदों ने जब खानखाना के पक्के फैसले की बात सुनी तो कहा—"चलो, अब हम हिन्दुस्तानियों की तरह लड़ें। अब मौत का ही सामना करना है।" दौलत खां ने दक्खिनियोंका मुकाबला करनेकी बात जब मान ली तब अपने स्वामी के पास जाकर फिर उसने पूछा—"उनकी तादाद बहुत ही ज्यादा है और फतह खुदा के हाथ है। अगर हम हार गए तो आपको कहां तलाश करें ?" फौरन ही जवाब मिला—"लाशों के नीचे।"

इन जोशीले शब्दों से उत्साहित होकर दौलत खां दुश्मन पर टूट पड़ा। कुछ घण्टे दोनों ओर की तोपों के गोले प्रचण्ड वेग से छूटते रहे। अन्त में जीत अधिक संख्या की नहीं, उच्च कोटि के नेतृत्व और वीरता की हुई। मुगलों के प्रचण्ड आक्रमण का सामना न कर पा सुहैल खां शाहदुर्ग को वापस लौट गया। मुगल भी लम्बी लड़ाई के बाद थक कर चूर-चूर हो चुके थे, इसलिए दुश्मन का पीछा न कर वह भी अपने पड़ाव पर लौट आए।

गोदावरी के तट पर खानखाना को जो विजय प्राप्त हुई वह उनके सैनिक जीवन की एक अद्‌भुत उपलब्धि है। उनकी नीति यह थी कि लड़ने से पहले वह शत्रु की शक्ति का पता लगाते थे, गोलियों की बौछार के बीच फुर्ती के साथ जरूरत के हिसाब से अपनी जगह बार-बार बदल सकते थे, और बड़ी से बड़ी मुश्किलों के बीच अपने कर्त्तव्य से डिगते नहीं थे। ये सारे ही गुण उनके कुशल सेनापतित्व को प्रमाणित करते हैं। खान देश के सुलतान और बहादुर राजपूत जिस तरह इस लड़ाई में अपने प्राणों

की वाजी लगाकर लड़े और मरे, उससे यह स्पष्ट है कि उनके समर्थक और अनुयायी उन्हें कितनी मुहब्बत करते थे और उनके प्रति कितने ज्यादा वफादार थे।

अगर मुगलों के अन्दर आपसी झगड़े न होते और विजय के बाद वह एक होकर आगे बढ़ते, तो इसमें शक नहीं कि दक्खिन का, बाद का, इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

फतह दिलाने वाले खुदा का शुक्र अदा करने के बाद खानखाना ने अपनी स्वाभाविक उदारता के अनुरूप अपने खीमे की सारी चीजें, जिनकी कीमत करीब ७५लाख रुपये रही होगी, अपने सिपाहियों के बीच बांट दी, और अपने लिए मामूली जरूरतकी सिर्फ थोड़ी-सी चीजें रहने दीं।लाहौरमें शाहंशाह के पास और शाहपुर में शाहजादे के पास उन्होंने दूतों के ज़रिये नई जीती हुई लड़ाई का सारा हाल भेजा। अपनी फौज के सिपाहियों को इनामों और बख्शीशों से सन्तुष्ट कर देने के बाद उन्होंने कुछ को बरार के उन दुर्गों को जीतने के लिए भेज दिया जो चांद बीबी से मिल जाने पर भी अभी तक अधीनता नहीं स्वीकार कर रहे थे। और वे खुद, अपने कुछ मुसाहिबों के साथ, जालना की अपनी छावनी में लौट आए।

खानखाना ने अपनी चिट्ठी में शाहजादा को सुझाव दिया था कि अगर वह कुछ फौजें और भेज दें तो बीजापुर और गोलकुण्डा के इलाकों पर भी वह चढ़ाई कर दें। उन राज्यों की फौजें उन्हीं के हाथों शिकस्त खा चुकी थीं, और उनसे आत्मसमर्पण कराना उनकी दृष्टि में अनिवार्य रूप से आवश्यक था। पहले तो शाहजादे ने इस सुझाव को पसन्द किया, पर बाद को अपने चापलूस मुसाहिबों के बहकावे में आकर वह बदल गया। शाहजादे का अभिभावक सादिक खां बराबर ही उसके कान खानखाना के खिलाफ भरता रहता था और उसने शाहजादा को इस सुझाव के खिलाफ भड़का दिया।

शाहजादा अपने अभिभावक के हाथ की कठपुतली बना हुआ था और इसलिए उसके और खानखाना के बीच मनमुटाव बढ़ता ही चला

गया। यहां तक कि खानखाना का हर काम अव सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। सादिक द्वारा भड़काए जाने पर शाहजादे ने खानखाना को लिख दिया कि इतनी देर वाद उन्हें जो फतह हासिल हुई है उसे पूरी करके दिखाएं और अहमदनगर पर फौरन चढ़ाई कर दें। खानखाना ने जवाव दिया कि वरार में अभी कई दुर्ग जीतने को वाकी पड़े हैं और उन्हें उसी हालत में छोड़ निजामशाही राजधानी पर हमला कर देना गलत होगा। उनकी राय में यह चढ़ाई अगले साल की जानी चाहिए।

पर खानखाना की एक न सुनी गई। जितनी ही उन्होंने अपनी वात को सही साबित करने की कोशिश की, उतनी ही मात्रा में शाहजादा नाराज होता गया। उसके उद्दण्डतापूर्ण, और रास्ते में रोड़े अटकाने वाले रवैये से खानखाना का दिल किस तरह टूट गया था और वह अपने को कितना असहाय महसूस कर रहे थे इस पर अबुल फजल को लिखे गए उनके खतों से वहुत वड़ी रोशनी पड़ती है। उनकी निराशा यहां तक वढ़ गई थी कि उन्होंने फकीर हो जाने तक की इच्छा जाहिर की। शाहजादे ने भी अपने पिता को, उदासीन होते जाने वाले सेनापति के खिलाफ, शिकायती चिट्ठियां भेजीं और सुझाव रखा कि उन्हें फौरन वहां से हटा लिया जाए, और दक्खिन की फतह पूरी करने के लिए उनकी जगह किसी दूसरे को नियुक्त किया जाए।

शाहंशाह ने सदा की भांति अपनी विवेकशीलता से काम लिया, और शाहजादा और खानखाना दोनों ही द्वारा एक-दूसरे पर लगाए गए इल्जामों की पक्की जांच कराई। दोनों के ही साथ वह सख्ती से पेश आए। राजा शालवाहन को शाहजादे को लाहौर लाने के लिए शाहपुर भेजा गया और खानखाना को लाने के लिए रूप खवास को।

शाहंशाह के हुक्म के मुताविक खानखाना लाहौर आए। अकवर ने उनके साथ नेक सलूक किया और सौहार्द की भावना रखी, और खानखाना की सफाई सुनने के वाद उनके दिल में कोई शिकायत नहीं रह गई।

दक्खिन से बुला लिए जाने के वाद, शाही दरवार में खानखाना की

जिन्दगी खुशी से नहीं वीती। मुराद के साथ हुए झगड़े के कारण शाहंशाह के कोपभाजन तो वह वने ही थे, उसी एक महीने में उन्हें दो पारिवारिक मौतों का सामना करना पड़ा। पहले उनके वेटे हैदरी की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई। लड़का शराव के नशे में चूर एक सराय में सोया हुआ था। मकान में आग लग गई, और लड़का होश में आने से पहले ही जल कर राख का ढेर वन गया। और तीन दिन वाद खानखाना की प्रधान बेगम मह वानू भी चल वसीं।

खानखाना के चले जाने के वाद दक्खिन में मुगलों की हालत सुधरी नहीं। शाहजादा मुराद ने वहां से न हटने का औचित्य सिद्ध करने की दृष्टि से थोड़ी हरकत जरूर की, पर छिटपुट दो चार दुर्गों को जीतने के अलावा कोई सफलता नहीं पा सका। वहुत ज्यादा पीने के कारण उसने अपनी तन्दुरुस्ती भी चौपट कर डाली थी। अहमदनगर की ओर वढ़ते हुए वह सख्त वीमार पड़ गया और २ मई सन् १५९९ को पूर्णा के तट पर देहवारी में उसकी मृत्यु हो गई।

अवुल फजल के वहां पहुंचने पर, दक्खिन को फतह करने के मुगलों के प्रयत्नों में नई जान आई। पर सदा से चले आने वाले आपसी झगड़ों की वजह से वह भी कुछ ज्यादा न कर पाए। दक्खिनियों ने अपनी खोई हुई जमीन को फिर से पाने के लिए कोशिशें शुरू कर दीं। शाही दरवार में जो दल अवुल फजल के खिलाफ था उसके कुचक्र जारी थे, और दक्खिन में अब जो हालात पैदा हो गए थे, उनमें यह जरूरी हो गया था कि या तो खुद शाहंशाह वहां पहुंचें, या किसी शाहजादे को भेजें।

शाहंशाह ने पहले शाहजादा सलीम को भेजने की सोची। पर युवराज को बाप की नीयत में शक हुआ और उतनी दूर जाना उसने पसन्द नहीं किया। तव दानियाल को भेजना ठीक हुआ। शाहंशाह उसे अगले मंजिल तक छोड़ने गए और वड़ी-वड़ी नसीहतें देकर लौट आए। शाहजादा को दक्षिण के जीते हुए इलाकों की हुकूमत की जिम्मेदारी दी गई और अवुल फजल उसके 'अतालीक' (अभिभावक-शिक्षक) और वास्तविक सेनापति

बनाए गए।

शाहजादे ने रास्ते में काफी वक्त गंवा दिया। १६ सितम्बर सन् १५९९ को शाहंशाह शिकार के बहाने मालवा के लिए चल पड़े, पर उनका असली मंशा यही था कि वह शाहजादे से बहुत दूर न रहें और उसे आगे बढ़ने के लिए उकसाने का काम करते रहें। पर उन्हें एक ऐसे आदमी की जरूरत महसूस होने लगी जो अपनी प्रतिभा, अपने सम्बन्धों और अपने अनुभवों के कारण उस निकम्मे लड़के पर नियंत्रण रख सके। अबुल फजल अपने ऊपर आए हुए बोझों से ऊब चुके थे और छुटकारा चाहते थे। तब उनकी जगह भी किसे दी जाए? शाहंशाह को एक ही योग्य सेनापति दिखाई दिया जो शाहजादे के साथ जा सकता था। और वह थे खानखाना। वह शाहजादे के ससुर भी थे; उनकी बेटी जाना बेगम से दानियाल की शादी हुई थी। दक्खिन की स्थिति की उनकी पक्की जानकारी थी, और वह उसे संभाल भी सकते थे। और साम्राज्य के हित में उनके वफादार बने रहने की भी उन्होंने फिर से कसमें खाई थीं। इन सारी बातों का खयाल करते हुए शाहंशाह ने एक बार फिर खानखाना को दक्खिन में प्रधान सेनापति और नए शाहजादे का 'अतालीक' बना कर भेज दिया।

तेजी के साथ बढ़ते हुए वह शाहजादे के पास जा पहुंचे। रास्ते में उन्हें अहमदनगर पर हमला करने के अबुल फजल के इरादे की खबर मिली। कुछ वक्त से खानखाना और शाही दरबार के उस इतिहासकार के आपसी सम्बन्ध बिगड़े हुए थे। खानखाना भला यह कैसे बरदाश्त कर सकते थे कि निजामशाही राज्य को जीतने का यश उनके प्रतिद्वन्द्वी को मिले। इसलिए उन्होंने दानियाल पर जोर डाला कि वह अबुल फजल को जल्दबाजी करने से रोके। शाहजादा तो खानखाना के हाथ की कठपुतली था ही। उसने फौरन अबुल फजल को हुक्म भेजा कि वह अहमदनगर पर चढ़ाई न करें और उसके आने का इन्तजार करें। अबुल फजल को यह हुक्म गोदावरी के तट पर बसे मूंगी पाटन में मिला और वह रुक गए।

बुरहानपुर से वे लोग रवाना हुए। अहुबाड़ा में अबुल फजल मिले

जो तीन दिन तक उन्हें निजामशाही राजनीति की तब तक की स्थिति से वाकिफ कराते रहे। आगे बढ़ते-बढ़ते उन लोगों ने यह विचार किया कि बरसात बीतने पर अहमदनगर के किले पर घेरा डाला जाए। पर शाहं-शाह दक्खिन के मामलों को देर तक लटकाए नहीं रखना चाहते थे और जल्द ही सब निपटा देना चाहते थे। इसलिए अहमदनगर पहुंचते ही अवि-लम्ब घेरा डालने का निश्चय कर लिया गया।

निजामशाही सरकार चांद बीबी और उसके बड़े वजीर अभंग खां हबशी के आपसी झगड़ों में फंसी हुई थी। बहादुर निजामशाह तो नाम को ही बादशाह था, चांद बीबी ही वास्तविक शासक थी। अभंग खां हबशी सारी ताकत खुद हड़पना चाहता था और चांद बीबी और बहादुर को गिरफ्तार करने की दृष्टि से उसने किले पर घेरा डाल रखा था। खानखाना को दुश्मन के इन आपसी झगड़ों में अपने लिए एक स्वर्ण अव-सर दिखाई दिया। उन्होंने अपनी फौजें इकट्ठी कीं और किले को घेर लिया।

१२ अप्रैल को घेरा शुरू हो गया था और ४ महीने ४ दिन वह कायम रहा। कई सेनाध्यक्षों के बीच तोपखाने बांट दिए गए थे और प्रधान सेना-पतित्व खानखाना के हाथ में था। वीर चांद बीबी के नेतृत्व में दुर्गरक्षक सेना दृढ़ता के साथ डटी रही।

पर इस बहादुर औरत के भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। जुनेद खां हबशी के नेतृत्व में कुछ दक्खिनी अमीर चांद बीबी की दूरदर्शी नीति के खिलाफ रहे थे। उन परिस्थितियों को भूल जिन्होंने चांद बीबी को मुगलों से समझौता करने के लिए विवश किया था, वे उसे अब विश्वासघातिनी सिद्ध कर रहे थे। एक रात को, जबकि वह नमाज पढ़ रही थी वे उस पर टूट पड़े और उसका कत्ल कर डाला।

चांद बीबी की इस निर्मम हत्या ने मुगलों का काम आसान बना दिया। एकमात्र वही थी जिसका नेतृत्व किले में घिरी फौज के अन्दर अनुशासन और एका कायम रख सकता था। मुगल फौजें धीरे-धीरे

अपनी खाइयों को आगे बढ़ाती चली गईं और किले की परिखा तक जा पहुंची और उसे बालू और पत्थरों से पाट दिया। काम आसान नहीं था, क्योंकि यह परिखा करीब ४० गज चौड़ी और सात गज गहरी थी। इसके बाद उन्होंने दीवालों को तोड़ने की कोशिश की, जो कि सत्ताईस गज ऊंची थी। कई सुरंगे लगाई गईं, पर किले की फौजें बराबर ही चौकन्नी थीं और वे उन सुरंगों को भरती चली गईं। आखिरकार मुगलों को एक सुरंग में बारूद भर कर उसे उड़ा देने में सफलता मिल गई, और बुर्ज का एक हिस्सा ढह पड़ा। किले की फौजों ने बिना जली बारूद को सुरंग से निकाल देने की भरपूर कोशिश की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। मुगलों ने फिर से उसमें १८० मन बारूद भर दी। १६ अगस्त सन् १६०० को खानखाना के हुक्म से उसमें आग लगा दी गई। जोर का धड़ाका हुआ और लैला नाम का प्रसिद्ध बुर्ज एकदम उड़ गया और उसके साथ ही साथ करीब तीस गज लम्बी दीवाल भी ढह गई।

इस चौड़े रास्ते में होकर मुगल फौजें किले में घुस पड़ीं। पर किले की फौजें अभी भी लड़ने पर आमादा थीं। दुर्ग को बचाने के लिए चप्पा-चप्पा जमीन के लिये वह लड़ीं और उनके १५०० आदमी खेत रहे। आखिरकार वह दुश्मन की बाढ़ को रोक नहीं सकीं, और उसकी शर्त पर सुलह के लिए राजी हो गईं। वहां के बालक सुलतान, बहादुर को, उसके पूरे खानदान के साथ, खानखाना असीर ले गए। वहां से उसे ग्वालियर भेज दिया गया जहां के किले में वह आजीवन बन्दी बना कर रखा गया। इस फतह के सिलसिले में कीमती जवाहरात का एक भारी खजाना, अमीरों का एक पुस्तकालय, २५ हाथी और एक बड़ा तोपखाना मुगलों के हाथ लगे।

अहमदनगर किले पर कब्जा कर लेने के बाद मुगलों ने १७ जनवरी सन् १६०१ को असीरगढ़ का किला भी ले लिया। पांच महीने बाद परि-स्थितियों की मजबूरी में शाहंशाह को उत्तर वापस चले जाना पड़ा। दानियाल के साथ खानखाना पर ही दक्खिन का फतह को पूरा करने की

जिम्मेदारी आ पड़ी।

अप्रैल सन् १६०१ में अहमदनगर लौटने पर खानखाना को दो समस्याओं का सामना करना पड़ा। आपसी झगड़ों की वजह से उनकी अन्दरूनी हालत कमजोर हो गई थी। यह एक पुरानी बीमारी थी जो मौके पर खुद शाहंशाह के रहने की वजह से उस बीच दबी रही थी। उनकी पीठ फिरते ही उसने फिर प्रचण्ड रूप ले लिया। रोजमर्रा की जरूरी चीजों का दाम बेहद बढ़ गया था जिससे घबड़ा कर फौजें वापस लौटने के लिए बेताब हो रही थीं। बाहर की स्थिति भी और ज्यादा बिगड़ चुकी थी। अहमदनगर की राजधानी आसपास के कुछ जिलों के साथ मुगलों के कब्जे में आ चुकी थी, पर कुल मिलाकर निजामशाही राज्य ने अपनी स्वतन्त्र हस्ती नहीं छोड़ी थी। मुगलों की कमजोरियों का फायदा उठा कर प्रभावशाली अमीरों ने बुरहान प्रथम के पोते को मुर्तजा निजाम शाह के नाम से नए बादशाह के रूप में गद्दी पर बिठा दिया था। अब वह हाथ से निकले हुए इलाकों को फिर से वापस पाने के काम में लगा हुआ था। इन अमीरों में मलिक अम्बर और राजू दक्खिनी सबसे ज्यादा ताकतवर थे और इन्हींके साथ खानखाना को खास तौर से निपटना था। बाहर के आक्रमणकारी के खिलाफ वे जरूर आपस में मिल गए थे, पर अपने स्वार्थों की टक्कर में वे एक दूसरे के खिलाफ ही अकसर तलवार खींच लेते थे। अम्बर का इलाका चूंकि मुगल सरहद से बिल्कुल ही मिला हुआ था और ताकत भी उसी की ज्यादा थी, इसलिए खानखाना ने पहले उसी से निपटने का फैसला किया।

निजामशाही सल्तनत में मलिक अम्बर का प्रभाव, उसकी ताकत और उसकी प्रतिष्ठा कितनी थी, यह मुगल सेनापति से छिपा नहीं था। इसीलिए उन्होंने तैलंगाना की ओर एक बड़ी फौज रवाना की। अम्बर पहले से ही तैयार बैठा था। मंजेरा नदी के तट के निकट नन्देर में उसने मुगल फौज का मुकाबला किया। काफी खूनखराबी के बाद १६ मई सन् १६०१ को वह खदेड़ दिया गया। पर जल्द ही वह लौट पड़ा, और मुगलों

को पता भी नहीं चल पाया था, कि उसने उन पर अचानक छापा मार कर अपनी गई हुई जगह वापस ले ली।

खानखाना ने अम्बर की बढ़ती हुई ताकत के खतरे को देखा। इसलिए उन्होंने अपने ही बेटे मिर्जा इरिज की सेनाध्यक्षता में पांच हजार चुने हुए सवारों को तैलंगाना की सरहद की ओर इस मतलब से रवाना किया कि सरहद की रक्षा करने वाले कप्तानों की ताकत बढ़ जाए। इरिज के बढ़ने की अम्बर को गन्ध मिल गई और वह अहमदनगर से लगभग २०० मील पूर्व नन्देर में मुगलों का मुकाबला करने के लिए बढ़ आया।

मुठभेड़ भी जल्द ही हुई। अम्बर की सेना के अग्रभाग ने मुगलों के हाथियों को तितरबितर कर दिया और फिर उनके अग्रभाग पर प्रचण्ड आक्रमण किया। पर मुगल तोपों ने दक्खिनियों के छक्के छुड़ा दिए और उन्हें आगे बढ़ने का बिल्कुल मौका नहीं दिया। मिर्जा इरिज अम्बर के मध्य भाग पर टूट पड़ा और निजामशाही सरदार के साथ बड़ी ही बहादुरी से लड़ा। इस जबर्दस्त हमले से दुश्मन के पांव उखड़ गए, और सारी आशा छोड़ वह भाग खड़ा हुआ। घायल अम्बर लड़ाई के मैदान में ही पड़ा रह गया, और अगर उसके कुछ अनुयायियों ने बड़ी ही बहादुरी और वफादारी का परिचय न दिया होता तो वह मुगलों के हाथ लगता। मगर मुगलों को लूट में जो माल मिला वह भी कम कीमती नहीं था। मिर्जा इरिज को अपनी बहादुरी के इनाम में 'बहादुर' का खिताब मिला।

सन् १६०२ में नन्देर में मिर्जा इरिज को जो फतह हासिल हुई उससे मुगलों की प्रतिष्ठा तो बढ़ी ही, पर साथ ही उनकी सरहद भी एक बार फिर तैलंगाना की सीमा से जा मिली। अब खानखाना दूसरे उपद्रवी अमीर राजू दक्खिनी पर काबू पाने के लिए पहले से ज्यादा अच्छी हालत में थे।

मलिक अम्बर को हरा जरूर दिया गया था, पर उसका खात्मा नहीं हुआ था। अगर मुगल सेनापति अपनी पूरी ताकत का राजू के खिलाफ इस्तेमाल करते, तो अम्बर फिर शरारत कर सकता था। अपने ही घर में फूट रहते, एक साथ दो दुश्मनों को कायम रखने में अक्लमन्दी नहीं थी।

यही सोच कर खानखाना ने अम्बर के साथ सुलह कर ली, और दोनों राज्यों की सीमाएं साफ-साफ निर्धारित कर दी गईं।

अगले दो साल तक खानखाना मुख्यतः राजू को काबू में लाने की कोशिशों में लगे रहे। पहले भी वह अबुल फजल से पिटता आया था पर मुगल कप्तानों की आपसी ईर्ष्या के कारण बच निकलता था। इस आपसी झगड़े को बचाने की गरज से शाहंशाह ने यहां तक चाहा था कि सेना को अबुल फजल और खानखाना दोनों की कमानों के बीच बांट दिया जाए। पर उनके इस इरादे पर अमल होने के पहले ही अबुल फजल को वहां से हटा लेना पड़ा और रास्ते में बीरसिंह बुन्देला ने उनका वध कर दिया।

राजू और भी तनता गया। सन् १६०४ में, इब्राहीम आदिलशाह की लड़की से शादी करने के लिए अहमदनगर जाते हुए शाहजादा जब दौलताबाद के नजदीक पहुंचा तब उसने राजू के पास खबर भिजवाई कि वह मुगल साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर ले और खुद आकर उससे मिले। निजामशाही सरदार ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और उलटे मुगल सेना पर जब-तब छापे मारने की कार्रवाई में जुट गया। खबर पाकर खानखाना को वहां आना पड़ा। जालना से वह अपनी सेना लेकर तेजी से बढ़ते हुए शाहजादे के पास पहुंचे। उनके पहुंचते ही दक्खिनी बिना लड़े भाग खड़े हुए।

मुगलों से पार न पा, राजू ने अब अम्बर पर अपना गुस्सा उतारा और उसकी हालत खराब कर दी। लाचार हो उसने खानखाना से मदद मांगी। दोनों निजामशाही सरदारों के बीच शक्ति-सन्तुलन कायम रखने के लिए खानखाना तो खुद ही मौका ढूंढ़ रहे थे। उन्होंने बीर के सूबेदार को अम्बर की मदद के लिए जाने का हुक्म भेजा। मुगल सवारों ने राजू को हरा दिया और उसे दौलताबाद तक खदेड़ दिया।

कितनी ही मुठभेड़े हुईं, पर राजू पकड़ में नहीं आ पाया। इस बीच, अप्रैल सन् १६०४ में दानियाल की मृत्यु हो गई और शासन को संभालने

के लिए खानखाना को बुरहानपुर जाना पड़ गया। बहुत ज्यादा पीने की आदत ने शाहजादा की जान ली थी, और खानखाना के लिए उसकी मौत एक बहुत बड़ा आघात था। वह न सिर्फ उनका दामाद था, बल्कि दक्खिन में मुगलों की सत्ता का प्रतीक बना हुआ था, जिसे कोई भी चुनौती नहीं दे सकता था। उस प्रतीक की आड़ में असली शासक खानखाना ही थे। और, दक्खिन की इन परेशानियों में वह उलझे ही हुए थे कि अकबर की मृत्यु हो गई।

५

अकबर की मृत्यु १७ अक्टूबर सन् १६०५ को हुई, और एक हफ्ते बाद सलीम गद्दी पर बैठा। खानखाना तब दौलताबाद में थे। उस वक्त वह दोनों निजामशाही सरदारों, मलिक अम्बर और राजू के बीच शक्ति-सन्तुलन कायम रखने की अपनी गोटियां बिठाने में बुरी तरह व्यस्त थे। 'मुआसिर-ए-रहीमी' से हमें पता लगता है कि खानखाना ने अचानक एक आमसभा बुला कर किस तरह उसके सहयोगियों को अचम्भे में डाल दिया था। काली मातमी पोशाक पहने हुए सभा में आकर उन्होंने उन सबको अकबर की मृत्यु का शोकजनक समाचार सुनाया था, और दूसरे ही क्षण उस मातमी पोशाक को उतार खुशी के मौके की रंगीन पोशाक पहन ली थी। अपने किसी वक्त के शागिर्द के गद्दी पर बैठने की खुशी में उन्होंने भारी जलसा किया और खुतबा नए शाहंशाह के नाम के साथ पढ़वाया। वे कुछ दिन और दौलताबाद रहे। उसके बाद दक्खिन की मुगलों की राजधानी बुरहानपुर जाने के लिए जलनापुर चले गए।

जलनापुर में खानखाना को मुकर्रब खां के मार्फत शाही फरमान मिला। नए शाहंशाह ने अपने पिछले 'अतालीक' के दिल से शक-शुबहा दूर करने की दृष्टि से ही अपनी इस विश्वासपात्र आदमी के जरिए यह फरमान भेजा था, और 'कुछ नरमी और कुछ कड़ाई के साथ उन्हें नसीहत भरी झिड़की' दी थी। जवाब में खानखाना ने दौलत खां लोदी के हाथ एक खत भेजा जिसमें अपने नए स्वामी के प्रति उन्होंने सच्ची स्वामिभक्ति और निश्चल निष्ठा प्रकट की। इसके बाद जलनापुर और आसपास के इलाकों की समस्याओं को सुलझाने की जिम्मेदारी अपने बड़े बेटे मिर्जा इरिज को सौंप वह अपने सदर मुकाम पर बुरहानपुर चले आए।

इधर खानखाना और शाहंशाह एक-दूसरे को तोहफे और पैगाम भेजने में लगे हुए थे, और उधर दक्खिन के मोरचे की हालत वेहद विगड़ गई थी। सन् १६०४ में दानियाल की मृत्यु हो जाने से मुगल सेनापति को जलना की अपनी छावनी छोड़ उसकी जगह दक्खिन का सूवेदार वनकर वुरहानपुर चले आना पड़ा था। मलिक अम्बर तो कव से अपनी ताकत वढ़ाने के लिए ऐसे ही मौके की ताक में था। पर मुगलों के साथ हुए अपने समझौते के खिलाफ कोई कदम उठाने के पहले उसने राजू को खत्म कर देना जरूरी समझा। दौलतावाद के किले पर उसने घेरा डाल दिया और अपने घरेलू दुश्मन की हालत वुरी कर दी। राजू को जव कोई दूसरा रास्ता न दिखाई दिया तो उसने मुगल सूवेदार की मदद मांगी। खानखाना तो इसी के इंतजार में थे। वह फौरन ही तैयार हो गए। पर दौलतावाद पहुंच कर खानखाना ने दोनों ही पक्षों के वीच पंच वन कर दोनों को ही अपनी चाल में फंसा लिया और एक-दूसरे के खिलाफ लड़ने से दोनों को रोक दिया। सुलहनामे पर दस्तखत होने के वाद वह फिर जलना लौट गए।

यह एक जवर्दस्त राजनैतिक विजय थी। अम्वर के साथ के लम्वे अनुभव ने खानखाना को इस लोकप्रिय और साहसी सरदार के खिलाफ लड़ाई के मैदान में उतरने के खतरों से सावधान कर दिया था। पर साथ ही उन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के वीच शक्ति-संतुलन कायम रखने के लिए यह भी जरूरी था कि उनकी महत्वाकांक्षाओं को सीमा के अन्दर रखा जाए। अगर वह दोनों के वीच तटस्थ ही रहे आए होते तो कुछ ही वक्त वाद उनकी अपनी स्थिति भी नाजुक हो जाती। इसलिए हथियारों की जगह अपनी मध्यस्थता के रास्ते ही अपना मतलव साधना उन्होंने ज्यादा पसन्द किया। राजू भी खत्म होने से वच गया, अम्वर के साथ हुई सुलह भी कायम रह गई, और हाल के इस समझौते से जो शक्ति सन्तुलन स्थापित हुआ उससे कुछ वक्त के लिए मुगल सरहदें सुरक्षित हो गईं।

पर यह राजनैतिक विजय ज्यादा वक्त तक खानखाना के काम नहीं आ सकी। सन् १६०६ में खुसरो की वगावत और फारस के वादशाह शाह

अब्बास सफवी द्वारा कन्दहार की घेरावन्दी (१६०६-१६०७) की वजह से शाहंशाही सल्तनत की समूची ताकत उत्तर-पश्चिम में लग गई। दक्खिनी मोरचे की दो साल तक उपेक्षा ही उपेक्षा होती चली गई। मलिक अम्बर ने इस मौके से फायदा उठा कर एक बार फिर सन् १६०७ में अपने प्रतिद्वन्द्वी राजू के खिलाफ चढ़ाई कर दी और उसके गढ़ को जीत कर उसे पकड़ लिया और उसके समूचे इलाके को कब्जे में कर लिया। इसके बाद वह मुगलों की ओर बढ़ा। शाही फौजों के बीच के आपसी झगड़ों के कारण कोई ठोस कदम उठाना असम्भव था। आक्रमणकारी सरदार सामरिक महत्व की एक जगह से दूसरी जगह की ओर अबाध गति से बढ़ता चला गया और रास्ते में पड़ने वाली सभी चौकियों पर कब्जा करता गया। जल्द ही उसने मुगलों के कब्जे में आए काफी बड़े इलाके पर अधिकार कर लिया। मुगल सूबेदार की हालत बेहद नाजुक हो उठी। पूरी पराजय साफ उनके सामने थी।

अम्बर की सफलता की बाढ़ को रोक सकने में खानखाना की असमर्थता की जिम्मेदारी किसी हद तक उन्हीं पर मानी जा सकती है। यह ठीक है कि उन्हें न तो अपने अधीन सेनाध्यक्षों का हार्दिक समर्थन मिला और न शाहंशाह का ही, जो उत्तर-पश्चिम में अपनी गद्दी को बचाने में बुरी तरह उलझे हुए थे। पर सन् १६०५ में जिन साधनों के बल पर वह अम्बर को दबा कर रखे रह सके थे, वही साधन प्रधान सेनापति के रूप में अब भी उनके पास थे। हो सकता है कि उन्होंने यही दिखाना चाहा कि दक्खिन में उनके रहे बिना काम चल ही नहीं सकता, और इसलिए जानबूझ कर वह निष्क्रिय बने रहे हों। मालूम होता है कि उन्हें यह शक हो चला था कि जहांगीर का उन पर पूरा भरोसा नहीं रहा है। उन्हें शायद डर था कि जब तक स्थिति इतनी नहीं बिगड़ जाती कि उनके बिना काम ही न चल सके तब तक प्रधान सेनापतित्व के अपने पद के बारे में भी वह निश्चिन्त नहीं रह सकेंगे।

दक्खिनियों की जिस तरह जीत पर जीत होती चली जा रही थी उससे

आगरे की मुगल सरकार घवड़ा गई। सन् १६०८ में बुरहानपुर में खान-खाना के पास शाही दरबार में हाजिर होने का जो शाही फरमान पहुंचा उससे दक्खिन के सूबेदार को चैन ज्यादा मिला या घवड़ाहट ज्यादा हुई, कहना कठिन है। शाहंशाह ने अपने पिछले 'अतालीक' के इस अजीब बर्ताव पर आश्चर्य प्रकट किया था कि इतना वक्त गुजर जाने पर भी वह अपने पुराने शिष्य के गद्दी पर बैठने की खुशी में उन्हें मुबारकबाद देने उनके पास नहीं आए। पर असलियत यह थी कि वह अपने शक्की सूबेदार को वहां से हटा लेना चाहते थे। यह इशारा काफी था। अपने बेटे इरिज पर दक्खिन के मामलों की जिम्मेदारी सौंप और साथ ही साथ दक्षिण की नायाब चीजों का मोह त्याग, खानखाना जल्द ही शाही दरबार में हाजिर होने के लिए आगरा रवाना हो गए।

वह एक मार्मिक दृश्य था जब अपने शिष्य को देखते ही खानखाना, अपने बड़प्पन की सारी शान छोड़ आवेश में आकर उसके पांवों पर जा गिरे। कृपालु शाहंशाह ने भी उसी दम उनका सिर जमीन से उठा उन्हें अपनी बांहों में जकड़ लिया और उनके गाल चूम लिए। बाद को अपनी आत्मकथा लिखते वक्त जहांगीर ने इस घटना के बारे में लिखा, "आनन्द और खुशी के आवेश में वह यह भी भूल गए थे कि वह सिर के बल चल कर आए थे या पांवों के बल।" इसके बाद खानखाना ने अत्यन्त बहुमूल्य तोहफे पेश किये जिनमें से सिर्फ जवाहरात की ही कीमत तीस लाख रुपये के करीब रही होगी।

खानखाना की नेकनीयती और स्वामिभक्ति से शाहंशाह प्रभावित हो गए। दक्खिनी मोरचे से और भी खराब खबरें आ रही थीं, और शाहंशाह ने अपने बड़े-बड़े सेनापतियों की राय ली। मंत्रणा-सभा बुलाई गई और परामर्श हुआ, पर कोई भी फैसला नहीं हो सका। चतुर खानखाना ने इस मौके से फायदा उठाकर शाहंशाह को अपनी योजना से लुभाया। उन्होंने लिख कर वादा किया कि दक्खिन में जो फौजें मौजूद हैं उनके अलावा बारह हजार सवार और दस लाख रुपये दिए जाएं तो दो साल के अन्दर

वह सारे दक्खिन पर कब्जा कर लेंगे; अगर वक्त के अन्दर अपनी बात वह परी न कर पाएं तो उन्हें सजा दी जाए।

बात शाहंशाह के दिल को भा गई। खानखाना की मांगों को पूरा करने का हुक्म जारी कर दिया गया। वह एक बार फिर दक्खिनी मोरचे का कमान संभालने और उस क्षेत्र में मुगलों के भाग्य का निपटारा करने दक्खिन के लिए रवाना हो गए। शाही दरबार में वह तीन महीने बीस दिन रहे।

बुरहानपुर पहुंच कर खानखाना ने वहां की हालत बहुत ही खतरनाक पाई। उनके वहां से हट जाने पर अम्बर की मुंहमांगी मुराद पूरी हुई थी और निजामशाही इलाके से मुगलों का खात्मा कर देने का उसे बहुत ही अनुकल अवसर मिल गया था। आदिलशाह भी उसके साथ आ मिला था। इस प्रकार,दक्खिनियों ने एक होकर आमसी फूट से जर्जर मुगलों पर बहुत जबर्दस्त हमला कर डाला था और मुगल फौजों की लगभग हर क्षेत्र में भारी क्षति हुई थी।

मुगल सेनापति ने वहां पहुंचते ही तुरन्त कार्रवाई शुरू कर दी। बुरहानपुर छोड़ वह जलनापुर पहुंचे और जहांगीर बेग के नेतृत्व में एक जबर्दस्त फौजी टुकड़ी दक्खिनी विद्रोहियों से अपनी जागीर छीन लेने के लिए पैठन भेजी। मुगल कप्तान बहादुरी से लड़ा, पर दक्खिनियों ने अपनी कहीं बड़ी फौज से उसे परास्त कर दिया। तब खानखाना ने जहांगीर बेग की मदद के लिए अपने बेटे दरब खां को भेजा, पर वह भी पैठन पर दक्खिनियों का ही कब्जा छोड़, सिर्फ पराजित कप्तान को अपने साथ ला सकने में सफल हो पाया। सेनापति खुद भी अपने बड़े बेटे को साथ ले दरब के पीछे-पीछे चल दिए थे, और उन्हें रास्ते में ही इसकी खबर मिली।

मलिक अम्बर जीत के नशे में चूर था। वह जलनापुर की मुगल छावनी की ओर बढ़ने लगा। पर उसके वहां तक पहुंचने के पहले ही खानखाना, दुश्मन की ऐसे ही किसी चाल का अनुमान कर उसका जवाब देने के लिए अपने बेटे मिर्जा इरिज को उधर भेज चुके थे।

दक्खिनियों ने सोचा था कि दुश्मन को सुराग तक न मिलने पाएगा और वह उस पर टूट पड़ेंगे। जब यह नहीं हो पाया तब जलनापुर से लगभग १६ मील की दूरी पर कोलनगाम में उन्होंने अपना पड़ाव डाल दिया। अपने भाई दरब को लेकर इरिज ने अपने दुश्मन को उसके पड़ाव में ही पहुंच कर युद्ध के लिए ललकारा। प्रचण्ड युद्ध हुआ। अम्बर ने बहादुरी के साथ इस हमले का मुकाबला किया। पर जब उसने देखा कि दुश्मन का पलड़ा बहुत ज्यादा भारी है तब वह भाग खड़ा हुआ।

पर इस छोटी-सी जीत से भला क्या होने को था? जिधर देखो उधर ही तो अम्बर ने मुगलों को उखाड़ फेंका था। अब वह बीजापुरी फौजों को भी अपने साथ ले अहमदनगर पर जा चढ़ा, किले को घेर लिया और मुगल सेनाध्यक्ष ख्वाजा बेग मिर्जा सफवी की हालत खराब कर दी। मुगलों तक रसद के पहुंचने के सारे रास्ते बन्द कर दिए गए और उन्हें हर तरह से परेशानी में डाला गया। मुगल सेनाध्यक्ष की छावनी में भुखमरी की नौबत आ गई, और दक्खिनियों की छापामार टुकड़ियों ने उन्हें क्षण भर के लिए भी चैन नहीं लेने दिया। तंग आकर वह बुरहानपुर की ओर लौट पड़ा। उसे आशा थी कि यहां वह अपनी फौज को कुछ बढ़ा ले सकेगा और अम्बर से लड़ने की नई तैयारी करेगा। उधर जलनापुर, खाली होते ही, दुश्मन के हाथ में जा ही चुका था।

दक्खिन की सीमा पर मुगलों की पराजय की खबरों से शाही सरकार बेचैन हो उठी। मुगलों की इस दुर्गति के कई कारण बताए जा रहे थे, जिनमें से प्रधान था मुगल फौजों के बीच सहयोग की कमी। विभिन्न फौजों के बीच ज्यादा एका स्थापित करने और ऊपर से दिए जाने वाले हुक्मों की तामीली ज्यादा जोरदार ढंग से कराने की दृष्टि से शाहंशाह ने किसी शाहजादे को वहां भेजने का फैसला किया। परवेज को भेजना तय हुआ। सन् १६०९ के अन्त में आसफ खां के संरक्षण में शाहज़ादा, दक्खिन के प्रधान सेनापतित्व और खानदेश और बरार की सूबेदारी के पदों पर खानखाना का स्थान लेने के लिए, दक्खिन के लिए चल पड़ा।

सन् १६१० के आरम्भ में परवेज बुरहानपुर पहुंचा। पर उसकी उपस्थिति से भी स्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। मुगल कप्तानों के आपसी झगड़े उसी तरह कायम रहे। अम्बर की फौजें दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही थीं और हर जगह मुगलों के दांत खट्टे करने में लगी हुई थीं। अहमदनगर के घेरे से दुर्गरक्षक सेना की रसद जितनी तेजी से चुकती जा रही थी उसी अनुपात में उनका धीरज भी टूटता जा रहा था। खानखाना ने और मदद के लिए शाहंशाह के पास जो दरखास्त भेजी थी उसका भी अभी तक कुछ नतीजा नहीं निकला था।

आसफ खां ने देखा कि स्थिति बहुत ही गंभीर हो गई है और उसे संभालना शाहजादे के वस के वाहर है। उसने शाहंशाह को सुझाव दिया कि खुद उन्हीं को अब वहां जाकर स्थिति संभालनी चाहिए। जहांगीर ने इस पर विचार किया और अपने सलाहकारों से सच्ची और साफ सलाह मांगी। दौलत खां लोदी के बेटे खान जहान लोदी ने इस प्रस्ताव का विरोध कर खुद अपने वहां भेजे जाने का प्रस्ताव रखा। उसकी यह दलील बड़ी जल्दी मान ली गई कि दरबार के अधिकांश अमीर तो वहां मौजूद हैं ही; फिर शाहंशाह के खुद वहां जाने की क्या जरूरत ? कई बड़े-बड़े सहायकों को साथ ले अब यह नया सेनापति 'दक्खिन की हालत सुधारने के लिए' आगरे से चल पड़ा।

पर खान जहान जब तक वहां पहुंचता, मुगलों को और भी कई चोटें खानी पड़ गईं। सन् १६१० की वरसात के मौसम में खानखाना ने दुश्मन पर एक ऐसा हमला करने की योजना बनाई जिसका उसे कानोंकान पता न चल सके। शाहजादे के साथ आई हुई फौजों को अपनी फौजों में शामिल करके वह बुरहानपुर से निकल कर निजामशाही इलाकों पर टूट पड़े और अम्बर की फौजों का मुकाबला करने इस तरह जा पहुंचे कि उसे पता भी नहीं चल पाया। पर भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया, और उनकी सारी योजना पानी के बबूले की तरह फूट गई। खुले मैदान की लड़ाई में मुगलों की इतनी बड़ी सेना का मुकाबला करने की अपनी असमर्थता का निजाम-

शाही सरदार को अच्छी तरह पता था। वह यह भी जानता था कि लड़ाई के उस इलाके की जमीन छापामार लड़ाई के लिए कहीं ज्यादा उपयुक्त है। इसलिए आमने-सामने की मुठभेड़ों से वह बराबर बचता गया, और मुगल फौजों को ऊबड़खाबड़ पहाड़ी रास्तों और बालाघाट के दुर्गम दरों में इस तरह चक्कर देता, घुमाता फिराता ले आया कि वे फंसती और अपनी रसद के रास्तों से दूर होती चली गईं। उसके इतिहास प्रसिद्ध मराठा सवारों ने, जो लूटमार की लड़ाई के लिए विख्यात थे, बीजापुर सेना के साथ मिल कर पद-पद पर मुगलों को लूटना और तंग करना शुरू किया। रसद चुक जाने पर भुखमरी की हालत पैदा हो गई। आदमियों और जानवरों की बहुत बड़ी तादाद भूखों मर गई। सर्वनाश के सिवा कुछ भी सामने नहीं दिखाई दे रहा था। और इन सबके ऊपर से यह कि खानखाना को अपने अधीन अफसरों में से किसी का भी सहयोग नहीं मिला, बल्कि उनकी इस मुसीबत में सभी ने एक स्वर से उन्हें कोसना शुरू कर दिया। उन्हें विश्वासघाती, उतावला और अयोग्य बताया जाने लगा। उनकी योजनाओं में अड़ंगे लगाए गए, उनके सुझावों का मजाक उड़ाया गया। इन परिस्थितियों में उनके सामने एक ही रास्ता रह गया था, कि पीछे लौट जाएं। पर यह भी आसान नहीं था। आखिर वह इतने घबड़ा उठे कि अम्बर के साथ एक अपमानजनक संधि करके बुरहानपुर लौट आए।

खानखाना के पीछे हटने से अहमदनगर का किला भी हाथ से निकल गया। किले की घेरेबन्दी बड़ी जबर्दस्त थी और लम्बे वक्त से चली आ रही थी। दुर्गरक्षक टुकड़ी बड़ी तंगी की हालत में थी। पर ख्वाजा बेग सफवी की दिलेरी और लगन ने घिरी हुई फौज की हिम्मत पस्त नहीं होने दी थी। वह अभी भी झुकने को तैयार नहीं था, पर जब खानखाना के पीछे हटने की बात दुर्गरक्षकों तक पहुंची तब बाहर से मदद की उनकी सारी आशा पर पानी पड़ गया। उनकी बचीखुची रसद भी खत्म हो चुकी थी, और अब तो भूखों रह कर ही वह मुकाबला जारी रख सकते थे।

उन्होंने दुर्ग-सेनाध्यक्ष पर आत्मसमर्पण कर देने के लिए दबाव डाला, पर बहादुर ईरानी अफसर ने उन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया। किन्तु स्वामिभक्ति और बहादुरी के नाम पर उन्हें कितनी देर तक मजबूर किया जा सकताथा ? इसी शर्त पर किला दुश्मनों के हवाले किया गया कि उन सबको सुरक्षित रूप में बुरहानपुर तक पहुंचा दिया जाएगा।

मध्यकालीन और आधुनिक दोनों ही प्रकार के इतिहासकारों ने इस लड़ाई के बारे में खानखाना की कड़ी टीका की है और उनकी कई गलतियां गिनाई हैं। उन्होंने छिपे-छिपे जो हमला किया वह बरसात के मौसम में नहीं होना चाहिए था, उन्होंने अपनी फौजों के लिए अपने साथ काफी रसद नहीं ली थी, और अहमदाबाद किले में बुरी तरह घिरी हुई दुर्गरक्षक फौज को उन्होंने मदद पहुंचाने में बहुत देर कर दी। खुद जहांगीर तक ने उन्हें इस मामले में नहीं बख्शा। उन पर यह भी इल्जाम लगाया कि उन्होंने उतावलेपन और लापरवाही से काम लिया, विश्वासघात किया, बल्कि जानबूझ कर दक्खिन में मुगलों की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिलाने की कोशिश की। अगर उन परिस्थितियों की बारीकी से जांच की जाए तो इनमें से अधिकांश इल्जाम गलत साबित होंगे।

खानखाना ने सबकी बात अनसुनी करके इतनी जल्दी और तेजी से जो चढ़ाई की उसका कारण यही था कि वह दुश्मन को अपने इरादों का सुराग तक नहीं लगने देना चाहते थे। और अगर वह ज्यादा अच्छे मौसम के इन्तजार में बैठे रहते तो दुश्मन अपनी फौजी ताकत और भी ज्यादा बढ़ा लेता। उस अवस्था में परवेज के साथ आई हुई फौजें भी दक्खिनियों के छापेमार दस्तों का मुकाबला करने के लिए काफी न साबित होतीं। अपने दल-बल के साथ शाहजादे के आ पहुंचने से खानखाना हमला करने की ज्यादा अच्छी स्थिति में आ गए थे। अगर वह देर करते तो पहल फिर दुश्मन की ओर से ही होती। दूसरे, दो साल की वह मियाद भी जल्द ही खत्म होने को थी जिसके अन्दर उन्हें दक्खिन की विजय पूरी कर डालनी थी। अगर उन्होंने जल्दी न की होती तो उन्होंने जो बड़े-बड़े वादे किए थे

उन्हें पूरा कर दिखाने का मौका ही न मिलता। यों ही उनके कुछ प्रतिद्वंद्वी अमीर अपनी अपनी फौज लेकर दक्खिन की ओर चल चुके थे। अपने वादे को पूरा करने और अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिए कोई भी दूसरा सेनापति वही करता जो उन्होंने किया। तीसरी बात यह कि खानखाना ने अपने साथ पूरी रसद इसीलिए नहीं ली थी कि उनके सहयोगियों ने, जो पीछे रह गए थे, उन्हें भरोसा दिलाया था कि उनके पास वह बराबर रसद भेजते जाएंगे और उसकी तंगी नहीं पड़ने पाएगी। शुरू में उन्हें पूरा इत्मीनान हुआ भी नहीं था, पर जब वादे पर वादे किए गए तो उन्हें उनकी बात मान लेनी पड़ी। असल बात यह थी कि चूंकि खानखाना का शाहजादे पर सबसे ज्यादा प्रभाव था इसलिए उनके सहयोगी अमीरों ने, जिनमें से अधिकांश की हैसियत करीब-करीब उन्हीं के बराबर थी, जानबूझ कर उन्हें गिराने की योजना बनाई थी। और आखिरी बात यह, कि खानखाना अगर सचमुच मुगल हितों के खिलाफ काम कर रहे थे तो जहांगीर ने एक बार नहीं, बार-बार उन्हें दक्खिनी कमान देकर भेजा ही कैसे ? शाहंशाह ने अपनी आत्मकथा में साफ-साफ लिखा कि 'इस बात पर विश्वास जरूर नहीं होता था, पर अन्त में उनके मन पर यही छाप पड़ी रह गई।' दरअसल खानखाना के प्रति ईर्ष्यालु अमीर उनके खिलाफ शाहंशाह के कान भरते ही चले गए। धूर्त्त खान जहान उन दिनों जहांगीर का सबसे अधिक कृपापात्र था और उसे उन्होंने अपने 'फरजन्द' का खिताब दे रखा था, और वह प्रधान सेनापति का पद पाने के लिए बुरी तरह आतुर था। उसी ने शाहंशाह को यह दिखाने की हर तरह से कोशिश की कि दक्खिन के मोरचों पर मुगलों की हार खानखाना के विश्वासघात के कारण ही हुई है। अपने 'फरजन्द' के लिए शाहंशाह की जो कमजोरी थी उसने उन्हें अन्धा बना दिया था और उन्होंने उसकी सारी बात सही मान ली और उसकी शिकायतों की जांच तक कराना जरूरी नहीं समझा।

थोड़े में कहा जाए, तो खानखाना की पराजयों का वास्तविक कारण था मुगल अमीरों का आपसी ईर्ष्या-द्वेष। फिर भी, यह तो मानना ही

पड़ेगा कि वरसात जब पूरे जोरों पर थी ठीक उस वक्त दुश्मन पर अचानक टूट पड़ने की खानखाना की योजना सैन्य संचालन की दृष्टि से एक बहुत बड़ी भूल थी। उनकी धारणा बन गई थी कि उनसे गलतियां हो ही नहीं सकतीं, और उनमें अभिमान भी आ गया था, जिनके कारण उन्होंने देखकर भी यह देखना नहीं चाहा कि लूटमार के छापामार तरीकों में माहिर उनके दुश्मन की रफ्तार उनसे भी ज्यादा तेज है। दक्खिन के पहाड़ी इलाकों में हलके मराठे घुड़सवारों का मुकाबला मुगल सवार कर ही नहीं सकते थे। उनके साथी अगर उनके प्रति वफादार भी रहते तब भी इसमें शक है कि उन्हें सफलता मिल पाती।

जो अमीर दक्खिनी कमान में खानखाना के सहयोगी थे वह पहले ही शाहंशाह के पास साफ-साफ कहलवा चुके थे कि मुगलों की हाल की पराजयों का कारण सेनापति की अयोग्यता, उतावलापन, लापरवाही और विश्वासघात है। खान जहान ने भी वहां पहुंच कर इन इल्जामों का समर्थन किया। उसने शाहंशाह को लिखा कि दक्खिन की विजय अगर पूरी करनी है तो आप या तो सारी जिम्मेदारी अकेले खानखाना पर छोड़ दें, और या उन्हें वापस बुला कर मुझे उनकी जगह यह दायित्व दें। उसका यह अन्तिम सुझाव ही मान लिया गया। दक्खिन का प्रधान सेनापति खान जहान हुआ, और महावत खां को पराजय के कारणों की जांच करने और खानखाना को अपने साथ शाही दरबार में लाने के लिए भेजा गया।

महावत खां ने अपना काम बहुत जल्दी पूरा कर डाला। खानखाना को साथ लेकर वह आगरा पहुंचा और शाहंशाह के सामने हाजिर हुआ। पर जहांगीर अपने पुराने 'अतालीक' के प्रति इतने कठोर हो चुके थे कि उन्हें कई दिन तक राजधानी के अन्दर घुसने की भी इजाजत नहीं मिली। आखिरकार जब उन्हें दरबार में पेश किया गया तब भी शाहंशाह का दिल जरा भी पिघला नहीं दिखाई दिया। इरिज और दरब भी अपने पिता के जाने के बाद जल्द ही आगरे के लिए चल दिए थे, पर उनके साथ दूसरा ही सलूक किया गया। उनकी सेवाएं सराहनीय मानी गईं और उन्हें इनामों

और वख्शीशों से लाद दिया गया। मिर्जा इरिज को शाह नवाज खां की उपाधि से विभूपित किया गया और दरब को इनाम में गाजीपुर की जागीर मिली।

गहरी व्यथा के साथ, अपमान की घूंट पीते हुए, खानखाना ने कुछ वक्त शाही दरबार में गुजारा, जिसके वाद उन्हें आगरा सूवे के कालपी और कन्नौज की सरकारों में एक जागीर देकर इन हिदायतों के साथ रवाना कर दिया गया कि वागियों को कुचल कर वह वहां शांति स्थापित करें।

दक्खिनी मोरचे के सेनापति के बदल जाने पर भी वहां की स्थिति में कोई फर्क नहीं आया। आपसी कटुता पूरे जोर पर थी। बड़े से बड़े, और अधिक से अधिक विश्वासपात्र सेनानायक भी उसमें कोई खास सुधार नहीं कर सके।

शाहंशाह को बड़ी मायूसी हुई, और एक वार तो उन्होंने यही फैसला कर डाला कि वह खुद जाकर वहां का सेनापतित्व अपने हाथ में ले लें, हालांकि यह इरादा उन्होंने फिर खुद ही छोड़ दिया। पर दक्खिन की समस्या का कोई हल ढूंढ़ना ही था। अपने सवसे अधिक योग्य सेनानायकों और लड़ाई के ज्यादा से ज्यादा साज-सामान से लैस फौजों को उन्होंने वहां भेजा था, लेकिन निजामशाही सरदार की छापामार लड़ाई के सामने उनकी कुछ भी नहीं चल पाई। सामरिक असमर्थता के बोध के कारण, और चापलूस दरवारियों की सलाह पर, खुद सेनापतित्व लेने का इरादा तो वह छोड़ ही चुके थे। तव फिर क्या किया जाए? अन्त में उन्होंने घवड़ा कर दोस्तों की राय ली और उन्हें कोई ऐसा आदमी वताने के लिए कहा जो अपनी योग्यता और अनुभव के वल पर मुगल सेना की प्रतिष्ठा को वचा सके।

अव सभी का ध्यान वदनाम किए गए खानखाना की ओर गया और उनके गुण दिखाई दिए। दक्खिन की हालत पर विचार करने के लिए वुलाई गई मंत्रणा-सभा में ख्वाजा अवुल हसन नाम का एक अमीर था जिसे दक्खिन के हालात की आंखों-देखी जानकारी थी। वहां की स्थिति को जांच करके वह तभी लौटा था। उसकी साफ राय थी कि दक्खिन की सम-

स्याओं की जितनी ज्यादा समझदारी खानखाना को है उतनी और किसी को नहीं है और उन्हें सुलझाने की योग्यता भी उनसे बढ़ कर और किसी में नहीं है। सभा का बहुमत उनके पक्ष में हो गया और शाहंशाह ने यह राय मान ली। अपमानित सेनापति को उनकी जागीर से वापस बुलाया गया और उन्हें खुश करने के लिए बहुत बड़ी-बड़ी उपाधियां दी गईं। एक बार फिर वह दक्खिनी मोरचे के सर्वोच्च सेनापति नियुक्त हुए।

खानखाना के कार्यव्यस्त जीवन में कभी-कभी जो अन्तराल आए, उनमें दो साल का यह वक्त जबकि उन्हें अपमानित अवस्था में उत्तर में रहना पड़ा था, शायद सबसे अच्छा बीता। हिन्दी की अपनी अमर कविताएं लिखने के लिए उन्हें इसी काल में काफी वक्त और अच्छी सोहबत मिली। उनके कुछ दोहे तो उनके कवि-हृदय के बड़े ही मार्मिक उद्‌गार हैं, जिनमें दानशील रहीम के दिल का यह दर्द उभर आया है कि उनसे कुछ चाहने वाले तो बढ़ते जा रहे हैं पर उनके पास देने को कुछ भी नहीं रहा। जब मांगने वाले उनके पीछे पड़ जाते थे तब अपनी कंगाली की उस हालत में वह बड़े दर्द के साथ कह उठते थे :

"ए रहीम दर-दर फिरहिं, मांगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़िए, वे रहीम अब नाहिं।।"

"यारो, अब यारी छोड़ दो, क्योंकि यह रहीम अब वह रहीम नही रहा। यह तो अब दर-दर भीख मांग, 'मधुकरी' खाकर अपना ही पेट पाल रहा है।"

पर मांगने वाले कहां उन्हें छोड़ने वाले थे ! आखिर तंग आकर एक बार उन्होंने इस तरह के लोगों में से एक को रीवा के राजा के पास इस दोहे के साथ भेज दिया :

"चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जा पर विपदा पड़त है, सो आवत यहि देस।"

इस प्रशंसात्मक उपमा से राजा फूल उठा, और कहते हैं कि उसने उस आदमी को एक लाख रुपया दे डाला। शायद इसी दौरान रहीम ने

भक्ति रस के अपने कुछ बहुत ही प्रसिद्ध बरवै हिन्दी में रचे और उन्हें तुलसी दास के पास भेज दिया।

बुरहानपुर पहुंच कर मुगल सेनापति ने फूंक-फूंक कर कदम रखने शुरू किए। जो सबक सीखने के लिए पहले उन्हें बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी थी उनके कारण अब वह बहुत सावधान हो गए थे और अपनी स्थिति को मजबूत कर लेने के बाद ही आगे बढ़ना चाहते थे। सफलता तभी मिल सकती थी जबकि घर की हालत ठीक हो जाए। वह अच्छी तरह समझते थे कि मुगलों की दुर्दशा और करारी हार मलिक अम्बर की बढ़ी-चढ़ी प्रतिभा और शक्ति के कारण उतनी नहीं हो रही थी जितनी मुगलों के ही आपसी ईर्ष्या-द्वेष और मतभेद के कारण। अगर वह अपने सहयोगियों के बीच हार्दिक एकता स्थापित करके संयुक्त मोरचा बनाने में सफल हो जाते हैं तो अम्बर को घुटने टेक देने में देर नहीं लगेगी। उनका सौभाग्य ही कहा जाए, कि आसफ खां, जफर बेग, अमीर-उल-उमरा और मान-सिंह जैसे उनके अधिकांश प्रतिद्वन्द्वी इस बीच एक-एक कर काल-कवलित हो चुके थे। खान आजम ने भी खुद ही अपना तबादला मेवाड़ के मोरचे के लिए करा लिया था। और इस तरह खानखाना के लिए मैदान बिल्कुल साफ था।

खानखाना का सितारा इस वक्त बुलन्दी पर था। अन्दरूनी झगड़ों से आंशिक रूप में छुट्टी पर जाने पर उन्होंने अपना ध्यान दुश्मनों की ओर दिया और देखा कि वे भी अपनी दलबन्दी के बुरी तरह शिकार हो रहे थे। कुछ असंतुष्ट राजपूतों ने मलिक अम्बर की हत्या करके सत्ता को हथिया लेने का षड्यंत्र रचा था जिससे स्पष्ट था कि उस शक्तिशाली सरदार के खिलाफ भी अन्दरूनी असन्तोष फैल रहा था। इस स्थिति से फायदा उठा कर मुगल सेनापति ने अपने सारे राजनैतिक दांवपेंच खेले, ताकि उनके दुश्मनों के बीच फूट बढ़ती ही चली जाए। परिणाम यह हुआ कि निजामशाही राज्य के कुछ शक्तिशाली अमीर अपने मालिक का साथ छोड़ मुगलों से आ मिले।

इस बीच शाहंशाह ने दक्खिनी मोरचे के लिए और भी फौजें भेजीं। इन फौजों में मुगल साम्राज्य के कई ऐसे धुरंधर सेनानायक थे जिन पर उसे गर्व हो सकता था। उन्हें बुरहानपुर पहुंच कर प्रधान सेनापति की फौजों के साथ मिलकर और उन्हीं की अधीनता में दुश्मन पर हमला करने और उसे खत्म कर डालने का हुक्म था। खानखाना को भी शाही फरमान मिला कि इन अमीरों के साथ मिल कर वह दक्खिन की फतह के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दें।

निजामशाही राजधानी उन दिनों खिड़की में थी, जहां बैठा अम्बर सारी निजामशाही इलाके से मुगलों को खदेड़ देने के मनसूबे बांध रहा था। मिर्जा शाह नवाज ने, दक्खिनी फौजों से फूटकर आने वाले अमीरों के सहयोग के वादे पर, अपनी और अपने दोनों भाइयों की फौज लेकर खिड़की की ओर धावा बोल दिया। अम्बर अपने पड़ौसी राज्यों के साथ समझौते कर चुका था जिनके अन्तर्गत, बीजापुर, गोलकुण्डा और बारिद शाह, सभी ने उसे फौजें दी थीं। खिड़की की ओर शाह नवाज के बढ़ते आने की खबर पाकर अब उसने अपने विश्वासपात्र सेनानायकों के नेतृत्व में पन्द्रह हजार सवारों की टुकड़ी मुगलों को तितर-बितर करने के लिए भेज दी।

शाह नवाज इसके लिए तैयार था। जैसे ही वह जलना के आगे बढ़ा और उसे दुश्मन का लड़ने का इरादा मालूम हुआ, उसने अपने छोटे भाई दरब खां के साथ एक टुकड़ी उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा दी। दोनों ओर की फौजें एक-दूसरे पर नजर पड़ते ही बुरी तरह से गुत्थम-गुत्था भिड़ गईं और प्रचण्ड युद्ध हुआ। दरब के हमले के सामने दुश्मन ठहर नहीं पाया, और भाग खड़ा हुआ।

इस हार और दूसरी भी हारों की खबर पाकर मलिक अम्बर घबड़ाया। अब उसके सामने मुगलों का मुकाबला करने के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं था। आखिर विभिन्न सहायक राज्यों की संयुक्त सेना को लेकर उसे मुगलों से लड़ने के लिए आगे बढ़ना पड़ा। वह रोशन-गांव पहुंचा जहां दक्खिनियों का मुकाबला करने के लिए मुगल सिर्फ दो हज़ार

की संख्या में पड़ाव डाले हुए थे। बीच में शाह नवाज था और उसके बाएं और दाएं बहादुर राजपूत और तुर्कमान। आगे दरब खां था। निजामशाही सरदार मलिक अम्बर की मिली-जुली फौज में ४० हजार सवार, ५०० हाथी और उतनी ही तोपें थीं।

दोनों फौजों का मुकाबला हुआ और तीसरे पहर के ३ बजे से जबर्दस्त लड़ाई छिड़ गई। दक्खिनियों ने हाथियों को आगे बढ़ा कर मुगलों के अग्र भाग पर प्रचण्ड आक्रमण किया। दोनों ओर की तोपें आग बरसाने लगीं और दोनों ओर ही खलबली मच गई। जैसे-जैसे दिन बीतता गया, लड़ाई और भी भयंकर रूप धारण करती गई। अन्त में मुगलों के अग्रगामी दस्ते का सेनानायक दरब दुश्मन का व्यूह भेद कर अन्दर घुस गया। अपने बाईं ओर वीरसिंह बुन्देला को और दाहिनी ओर मिर्जा सफवी को लिए हुए वह तेजी से आगे बढ़ा। कहीं ज्यादा संख्या में होने हुए भी दक्खिनी इस प्रचण्ड आक्रमण के वेग को नहीं झेल सके और उनका अग्र भाग छिन्न-भिन्न हो गया। इससे फायदा उठा, दरब और भी अन्दर जा घुसा और दुश्मन के मध्य भाग पर टूट पड़ा।

लड़ाई का यह सबसे नाजुक वक्त था। दो घण्टे तक दोनों ओर के बहादुर सिपाही कस कर मोरचा लेते रहे। अन्त में मुगलों की ही जीत हुई। अपने मोरचों को उखड़ते देख अम्बर मैदान छोड़कर भागा।

रोशन गांव की रणभूमि में फरवरी सन् १६१६ में शाह नवाज को जो विजय मिली उसका अपना एक महत्त्व है। उसने न सिर्फ मुगल सेना की गई हुई प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित किया, बल्कि एक साथ ही सारी दक्खिनी राजसत्ताओं को चोट पहुंचाई। कुछ समय के लिए तो किसी भी दक्खिनी सरदार की ताकत इतनी नहीं रह गई कि वह मुगलों के खिलाफ सिर उठा सके।

पर इस विजय का स्थाई दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रहा। अम्बर की हार से मुगल कोई फायदा नहीं उठा पाए और अपनी जीत को उन्होंने आगे नहीं बढ़ाया। आपसी मतभेदों और व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण उनका कोई

संयुक्त मोरचा बन ही नहीं सका। खानखाना की एक-एक योजना उनके सहयोगियों द्वारा विफल कर दी गई और उनके प्रत्येक प्रस्ताव को सन्देह की दृष्टि से देख गया। खुल्लमखुल्ला उन पर यह इल्जाम लगाया गया कि वह दक्खिनियों से मिल गए हैं और उनसे उन्हें पेंशन मिलती है।

मलिक अम्बर मौका चूकने वाला आदमी नहीं था। अपनी पराजयों की चोट जब धीरे-धीरे हलकी पड़ी तब वह फिर से अपनी ताकत बढ़ाने में लग गया। उसकी राजनैतिक चतुरता और बीजापुर के आदिलशाह की कोशिशों से धीरे-धीरे वे सब अमीर फिर उसके साथ हो गए जो पहले उसे छोड़ चुके थे। इतना सब कर चुकने के बाद वह मुगलों की ओर मुखातिब हुआ और उनकी आपसी फूट से फायदा उठा कर उसने फिर उनके प्रति आक्रमण की नीति अपनाई।

दक्खिन से जब फिर बुरी खबरें आने लगीं तो शाहंशाह का दम खुश्क हो गया। अब उन्होंने महसूस किया कि बिना किसी सख्त आदमी को भेजे दक्खिन की समस्या सुलझेगी नहीं। साम्राज्य के बड़े से बड़े अमीर काम पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हुए थे। सिर्फ पच्चीस साल का अनुभवहीन शाहजादा परवेज अभी बच्चा ही था और खानखाना के हाथ का खिलौना बन कर रह गया था। अपनी सारी महत्त्वाकांक्षा और शान-शौकत के बावजूद वह कुछ भी नहीं कर सका था और जहां कि उसे सारी ताकत अपने हाथ में रखनी चाहिए थी वहा उलटे वह मानों खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा था। यहां तक कि सर टामस रो जैसे एक विदेशी यात्री तक को आसानी से पता लग गया था कि शाहजादा सिर्फ नाम के लिए शासक है और असली शक्ति खानखाना के हाथ में है।

मेवाड़ का विजयी वीर शाहजादा खुर्रम दक्खिनी लड़ाई को फतह करने के लिए सबसे योग्य आदमी दिखाई दे रहा था। नूरजहां के शक्तिशाली गुट का भी वह कृपापात्र था। इसलिए खुर्रम को सर्वोच्च सेनापति बनाने का हुक्म जारी कर दिया गया। शाहजादा परवेज का तबादला इलाहाबाद के लिए हो गया। नूरजहां वाले गुट ने तो यह भी चाहा कि खानखाना को

वापस बुला लिया जाए, पर शाहंशाह नेपहले राजी होकर भी बाद को यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। बल्कि उन्होंने अब खुद अपना ही सदर मुकाम मालवा के मांडू में ले जाने का निश्चय किया, जहां से दक्खिन के नजदीक रह कर वह शाहजादा खुर्रम की ज्यादा आसानी से मदद कर सकेंगे और उसकी सेना के लिए हिदायतें भी दे सकेंगे।

आखिर सन् १६१६ का साल बीतते-बीतते खुर्रम दक्खिन के लिए रवाना हुआ। उसे 'शाह बुलन्द इकबाल' का खिताब दिया गया। अन्य प्रकारों से भी उसे अधिक से अधिक सम्मानित किया गया, और कीमती से कीमती तोहफे मिले, जैसा पहले कभी किसी के साथ नहीं किया गया था। जब वह नर्मदा नदी के बाएं तट पर पहुंचा तब अपने साथियों के साथ खानखाना उसकी अगवानी के लिए बढ़ आए और अपने साथ ही बुरहानपुर ले गए, जहां ६ मार्च सन् १६१७ को वह लोग पहुंचे।

शाहजादे के हाथ मजबूत करने में शाहंशाह ने कोई कसर नहीं उठा रखी थी और चुने हुए और परम विश्वासपात्र अमीरों का एक पूरा दल ही उसके साथ भेजा था। और अब उन्होंने खानखाना को अपनी ओर मिलाने की दृष्टि से शाहजादा को हिदायत दी कि वह शाह नवाज खां की बेटी से शादी कर ले। यह विवाह विशुद्ध राजनैतिक दृष्टि से किया गया और २३ अगस्त १६१७ को सम्पन्न हुआ। दक्खिनी कमान के सबसे अधिक शक्तिशाली सेनाध्यक्ष के साथ किए जाने वाले इस रिश्ते का उद्देश्य शाहजादे का रास्ता आसान करना ही था। शाह नवाज खां उस इलाके की सबसे ज्यादा जानकारी रखने वाला अमीर था जहां शाहजादा को काम करना था और उसकी सच्ची और पूरी मदद पाने का इससे बढ़ कर कोई दूसरा रास्ता नहीं हो सकता था। बाद को तो यह बात साबित भी हो गई। इस रिश्ते ने बाद की घटनाओं की बिल्कुल धारा ही बदल दी और शाहजादे के लिए शाह नवाज और खानखाना की हार्दिक सहायता पाकर दक्खिन के मामलों को जल्द से जल्द हल करना कहीं ज्यादा आसान हो गया।

शाहजादे ने तीनों दक्खिनी सरदारों के साथ राजनैतिक बातचीत शुरू

कर दी। हवा का रुख किधर था, यह उन खुर्राट लोगों से भी छिपा नहीं था। खुर्रम साम्राज्य की पूरी ताकत अपने पीछे लेकर वहां आया था। खानखाना के साथ उसका वैवाहिक सम्बन्ध होने के नाते उनके आपसी हितों में कोई टक्कर नहीं रह गई थी। और फिर, खुद शाहंशाह उन तीनों ही सरदारों के इलाकों के बहुत नजदीक आ बैठे थे। वे घबड़ा गए। उन्होंने देख लिया कि उनकी आजादी अगर किसी भी हद तक कायम रह सकती थी तो समझौते की बातचीत से ही, न कि लड़ाई के बल। इसलिए, जब मुगल राजदूत शान्तिवार्त्ता के लिए उनके पास पहुंचे और खिराज (कर) की रकम और हार कर गंवाए हुए इलाकों की वापसी के बारे में कुछ खास शर्तें उन्होंने पेश कीं, तो वे फौरन ही राजी हो गए। बीजापुर का आदिल शाह शाहंशाह के प्रति अपनी वफादारी साबित करने के लिए खुद आकर शाहजादे के दरबार में हाजिर हुआ और उसके लिए बहुत ही कीमती तोहफा लाया। कुतुबशाह ने भी अपने पड़ौसी सरदार की देखा देखी वैसा ही तोहफा नजर किया और शाहजादे की अधीनता स्वीकार की। अम्बर के सामने अब कोई दूसरा रास्ता नहीं रह गया। वह बालाघाट लौट गया और अहमदनगर के साथ-साथ दूसरे किलों को भी लौटा देने के लिए राजी हो गया। एक बार फिर उसे अपनी पुरानी जगह पर वापस लौटना पड़ा।

यह काम पूरा हो जाने पर शाहजादा अब वापस मिले इलाकों के एकीकरण और उनकी व्यवस्था के काम में जुट गया। दखिन की जटिल समस्याओं की जानकारी और अनुभव जितना बूढ़े खानखाना को था, और किसी को नहीं था। और इसलिए उसने उन्हीं को खानदेश, बराबर और अहमदनगर का सूबेदार नियुक्त किया और शाहनवाज खां को वापस मिले हुए इलाके में बिठा दिया गया। और, जीते हुए दक्खिन की रक्षा के लिए एक बड़ी सेना बुरहानपुर में छोड़ खुर्रम वहां से चल दिया। १२ अक्टूबर सन् १६१७ को, वह मांडू पहुंच कर शाहंशाह के दरबार में हाजिर हो गया।

शाहजादे के लौट जाने के बाद खानखाना ने प्रशासन का ढांचा बदलने

के लिए जबर्दस्त कदम उठाए। उनके बेटे शाहनवाज और विभिन्न चौकियों के दूसरे अफसरों ने भी उसी तरह मेहनत की। बार-बार कोशिश करने पर भी अम्बर फिर दो साल तक अपना सिर नहीं उठा सका।

जहांगीर के राज के तेरहवें साल में खानखाना को फिर शाहंशाह के दरबार में हाजिर होने का मौका मिला। गुजरात से आगरा जाते वक्त शाहंशाह खानदेश की सरकार के नजदीक से गुजर रहे थे। शाहंशाह की इजाजत पाकर वह उज्जैन और रणथम्भौर के बीच घाटी चांदा में (सितम्बर सन् १६१८), जहां उनका पड़ाव पड़ा था, उनसे मिले। शाहंशाह ने दिल खोल कर उनका स्वागत-सम्मान किया, उन्हें कीमती इनाम और तोहफे दिए, और उनका दरजा बढ़ा कर सातहजारी का कर दिया। इसके बाद खानखाना दक्खिन के अपने काम पर वापस लौट गए।

६

सन् १६१६ से खानखाना की वहत्तर वर्ष की जिन्दगी का सबसे अधिक शोचनीय अध्याय शुरू होता है। अकबर और जहांगीर के शासन-काल में उन्होंने जो कुछ किया था उसके कारण उन्हें उनकी हर तरह की कृपा भी मिली और उनका सम्मान भी। पर उनके भाग्य ने ही उनका साथ नहीं दिया, और इतनी शानदार जिन्दगी का अन्त बहुत ही बुरे ढंग से हुआ। शाही दरबार से लौटने पर खानखाना ने देखा कि उनका बड़ा बेटा शाहनवाज शराब बहुत ज्यादा पीने की वजह से बड़ी नाजुक हालत में है। जहांगीर ने पहले ही उन्हें उनके बड़े बेटे की शराबखोरी के बारे में चेतावनी दी थी और यहां तक कहा था कि अगर वह उसे नहीं संभाल सकते तो शाहंशाह उसे खुद अपनी देख-रेख में रखने को तैयार हैं। अब वह सख्त बीमार था, और अच्छे से अच्छे हकीमों का इलाज और कीमती से कीमती दवाइयां भी उसे अच्छा नहीं कर सकीं। जिस नौजवान का भविष्य इतना उज्ज्वल था वह ३३ साल की ही उम्र में चल बसा। शाहंशाह को इस मौत का बेहद गम हुआ।

खानखाना इस सदमे को किसी तरह संभाल ही पाए थे कि उनके तीसरे बेटे रहमानदाद की भी मृत्यु हो गई। उसका तो अच्छे से अच्छा इलाज करा सकने का भी मौका उसके पिता को नहीं मिल पाया। बहुत जल्द और अचानक ही वह चल बसा। लड़के को बुखार आया था और वह उतर भी चुका था। पर वह अभी ठीक से चलने फिरने लायक भी नहीं हुआ था कि दक्खिनियों के आकस्मिक आक्रमण के जवाब में अपने भाई दरब के कूच की खबर उसे मिली। उसके भी खून में उबाल आ गया और अपनी कमजोरी की हालत को भूल वह उसकी मदद के लिए दौड़ पड़ा।

बागी खदेड़ दिए गए और विजयी मुगल फौजें लौट आईं। पर लड़के को कहीं हवा लग गई जो जानलेवा साबित हुई। जहांगीर ने तलवार चलाने की उसकी दक्षता की बड़ी तारीफ की है।

शाहंशाह ने अपने पुराने 'अतालीक' के पास संवेदना का सन्देश भेज कर अपना शोक प्रकट किया। शाहनवाज का पंचहजारी मनसब उसके बेटों और भाइयों के मनसबों में मिला दिया गया। दरब को अब पंचहजारी का मनसब और कीमती तोहफे देकर उसके शोकार्त्त पिता के पास ही वापस भेज दिया गया, जहां वह अपने सबसे बड़े भाई की मृत्यु से खाली हुई बरार और अहमदनगर की सूबेदारी के पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

शाहंशाह दूर कश्मीर में प्राकृतिक दृश्यों का मजा ले रहे थे। शाहजादा खुर्रम सुदूर पंजाब में अपनी सारी फौज लिए कांगड़ा को जीतकर अपने अधिकार में लाने के लिए प्रयत्नशील था। मलिक अम्बर के लिए यह अच्छा मौका था। मुगलों के बीच फिर वैसे ही झगड़े शुरू हो गए थे, जिससे उसका काम और भी आसान हो गया, और दो साल पहले उसने जो इलाका मुगलों को दे डाला था वह कुल का कुल उसने फिर जीत लिया।

खानखाना बड़ी मुसीबत में पड़े। उन्होंने दुश्मन को आगे बढ़ने से रोकने की कोशिश की। उन्होंने उसे लड़ाई के मैदान में आमने-सामने आकर लड़ने के लिए मजबूर किया। मुगल सवार दुश्मन की छावनी पर टूट पड़े, लूटखसोट शुरू कर दी और उसे वहां से खदेड़ दिया। पर उन्होंने मुश्किल से अपनी पीठ फेरी थी कि दक्खिनियों ने फिर से इकट्ठे होकर उन्हें परेशान करना शुरू कर दिया।

अब अम्बर ने बालापूर को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। चार महीनों से मुगल फौजें वहीं पड़ी थीं, और रसद की कमी से बड़ी मुसीबत में थीं। कितने ही लोग साथ छोड़ भाग गए थे। प्रधान सेनापति ने बार-बार शाहंशाह को लिखा पर कोई मदद नहीं पहुंची। निराश हो, उन्होंने बुरहानपुर में जाकर शरण लेने का निश्चय किया, जहां अभी भी उनके पांव जमे रह सकते थे। पर दक्खिनियों ने वहां भी उनका पीछा किया और प्राचीर से

घिरे उस शहर का घेरा डाल दिया, और आस-पास के देहाती क्षेत्र को तहस-नहस कर डाला।

खानखाना अब बहुत बड़े संकट में थे। दक्खिनियों ने नर्मदा नदी पार कर ली थी और मांडू के भी आस-पास के इलाके को ध्वंस कर डाला था। मुगलों ने छः महीने तक घेराबन्दी की मुसीबतों को झेला था, पर रसद के चुक जाने पर वह और कब तक टिके रह सकते थे ? निराशा की इस अन्तिम सीमा पर जब वह पहुंच चुके थे तब उन्हें पता लगा कि खुर्रम को दुबारा दक्खिनी कमान दी गई है।

दिसम्बर सन् १६२० में खुर्रम एक बहुत बड़ी सेना लेकर दक्खिन की की ओर बढ़ा, और इन मुसीबत के मारों की जान में जान आई। मांडू पहुंच कर खुर्रम की सेना ने, वहां की भी मुगल फौज को साथ ले दक्खिनियों को चुनौती दी और उन्हें नर्मदा के उस पार खदेड़ दिया। फिर यह विजयी टुकड़ी नदी के दक्षिणी तट पर रुक कर पूरी सेना के आने का इन्तजार करने लगी। शाहजादे के आने पर कुल की कुल सेना बुरहानपुर की ओर बढ़ी।

खुर्रम का नाम ही दुश्मन के दिल को दहलाने के लिए काफी था। उसके बढ़ते आने की खबर पाते ही वह दक्षिण की ओर पीछे हट गया। मुगल सेना निजामशाही की नई राजधानी खिड़की पहुंची और उसने कठ-पुतली बादशाह को, मय उसके घरवालों के, पकड़ ही लिया होता अगर पिछली रात ही अम्बर ने फुर्ती के साथ उसे दौलताबाद के अधिक सुरक्षित किले में न भिजवा दिया होता। खिड़की का शहर एक मामूली सी लड़ाई के बाद ही जीत लिया गया और मुगलों ने पूरे के पूरे शहर को, मय उसकी आलीशान इमारतों के, ढहा दिया।

मई सन् १६२१ में, दरब खां के सर्वोपरि कमान के अन्तर्गत मुगलों की एक टुकड़ी दौलताबाद के लिए रवाना हुई। पर वह कुछ ज्यादा नहीं बढ़ पाई। दुश्मन की छापामार कार्रवाई का मुकाबला वह नहीं कर सकी और दौलताबाद का इरादा छोड़ अहमदनगर की ओर बढ़ी जहां, खंजर

खां, एक लम्बी घेरावन्दी की मुसीबतों और यातनाओं को झेलता हुआ अभी तक दुश्मन का मुकाबला करता आ रहा था। इस दुर्गरक्षक सेना को सहायता पहुंचाने के प्रयत्नों को अम्बर ने हर तरह से निष्फल करने की कोशिश की, पर खुर्रम को झांसा देना आसान नहीं था। शाहजादे की चालाकी के सामने उसकी एक न चली और अन्त में वह घबड़ा गया और सुलह के लिए तैयार हो गया। अहमदनगर का घेरा उठा लिया गया। जो इलाका मुगलों के अधिकार में था वह उन्हें वापस मिला और दक्खिन के तीनों प्रमुख सत्ताधीशों को कर (खिराज) देने के लिए राजी होना पड़ा। सुलह के शर्तनामे पर सभी पक्षों के हस्ताक्षर हो जाने के बाद शाहजादा बुरहानपुर की प्रशासनिक समस्याओं को हल करने के काम में जुट गए।

दक्खिन की जटिल समस्याओं को सुलझाना एक खुर्रम के ही बस का था। अम्बर चैन से बैठना तो जानता ही नहीं था। कितना भी बड़ा कोई दूसरा सेनापति अम्बर की बाढ़ को रोकने में असमर्थ था। खानखाना कुछ नहीं कर पाए थे, हालांकि उनकी असफलता के कई बड़े कारण थे। शाह नवाज की मृत्यु से वह अपना एक योग्यतम सेनाध्यक्ष गंवा चुके थे। आपसी ईर्ष्या-द्वेष ने भी उन्हें कभी जम कर लड़ने का मौका नहीं दिया। उनकी सचाई और ईमानदारी पर शक किया जाने लगा था और उनकी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं होने दिया जाता था। जिधर देखते थे उधर ही उनका रास्ता रुका नजर आता था। ऐसी परिस्थितियों के बीच भला कौन सेनापति सफलता की आशा रख सकता था ?

शाहजादे ने दक्खिनी सरहद पर अपना काम अभी पूरा भी नहीं किया था कि परिस्थितियों ने उसे उसी साम्राज्य के खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा करने के लिए मजबूर कर दिया जिसकी शान अपने बाप के राज में मुख्यतः उसी की बदौलत कायम रह सकी थी। खानखाना के लिए अपनी जिन्दगी का एक सबसे महत्वपूर्ण फैसला करने की घड़ी आ पहुंची। उन्होंने गहराई से इस समस्या पर विचार किया और अन्त में खुर्रम का ही साथ देने का निश्चय किया।

क्या बातें थीं जिनके कारण खानखाना इस निश्चय तक पहुंचे ? खुर्रम ही अपने पिता की गद्दी का वैध और योग्यतम उत्तराधिकारी था। उसका सबसे बड़ा और लोकप्रिय भाई खुसरों जरूर किसी वक्त कितने ही बड़े अमीरों की आशाओं का केन्द्र था, पर वह मर चुका था। उसका दूसरा भाई परवेज योग्य अवश्य था, और उसमें भी महत्वाकांक्षा थी, पर उसे शराब की लत पड़ चुकी थी और दक्खिन में उसकी असफलता से खानखाना उसकी अयोग्यता और निकम्मेपन के कायल हो चुके थे। वह काफी दूर भी था, और अगर वह चाहते भी तब भी उसे गद्दी दिलाने की क्षमता उनमें नहीं थी। शाहंशाह की तन्दुरुस्ती बिगड़ती जा रही थी और नूरजहां के कुचक्रों ने उन्हें और भी डरा दिया था। कारण, नूरजहां को अगर शहरयार को गद्दी दिलाने में सफलता मिल जाती तो खानखाना का ही नहीं, समूचे साम्राज्य का भाग्य अन्धकारपूर्ण हो जाता। नूरजहां के प्रभावशाली गुट ने बारबार जिस तरह उन्हें अपमानित किया था और उनकी जो दुर्गति की थी उसे न वह आसानी से भूल ही सकते थे और न उनके लिए उसे माफ ही कर सकते थे। दूसरे, खुर्रम उनके बेटे का दामाद था। अपने रिश्तेदार की मदद करना यों भी उनके लिए स्वाभाविक था। अपने पिता के राज्यकाल में शाहजादा खुर्रम ने जो कुछ कर दिखाया था उससे साम्राज्य का भविष्य उज्ज्वल हुआ था। सच पूछा जाए तो उसका साथ देने में उन्हें न सिर्फ अपना बल्कि समूचे साम्राज्य का फायदा दिखाई दे रहा था।

बगावत करने के पहले ही शाहजादे ने अपने पिता के पास अपनी बात पहुंचा दी थी और इस बात की पूरी सफाई दी थी कि वह क्यों यह कदम उठाने जा रहा है। पर जहांगीर के कान इस हद तक भरे जा चुके थे कि उन्होंने शाहजादे के हर कदम को अपने प्रति शत्रुता के रूप में देखा। वह जितनी भी सफाई देता गया, उनके दिल में उसके खिलाफ उतना ही जहर बढ़ता गया।

शान्तिपूर्ण तरीकों से न्याय प्राप्त करना जब सम्भव नहीं दिखाई

दिया तब खानखाना को साथ लेकर शाहजादे ने युद्ध द्वारा मामला निपटाने की गरज से उत्तर की ओर कूच कर दिया। रास्ते में एक बार समझौते की बातचीत फिर शुरू हुई, पर उसका कोई नतीजा नहीं निकला। फतेहपुर सीकरी पहुंचने पर उन्होंने देखा कि उनके लिए वहां के फाटक बन्द थे। तब वे लोग जमुना के किनारे-किनारे दिल्ली की ओर बढ़ चले और विलोचपुर में जाकर अपना पड़ाव डाला।

नूरजहां ने स्थिति की गम्भीरता को पूरी तरह भांप लिया और इस संकट का मुकाबला पूरी तैयारी के साथ किया। शाहजादा परवेज को उसकी सारी सेना के साथ उसने विहार से बुला भेजा। बहादुर राजपूत पूरी तरह उसके साथ थे ही। राजा वीरसिंह देव एक बार फिर अपने सहायक की रक्षा के लिए आ पहुंचा। खान आजम जरूर खिलाफ था, पर उसको बहुत बड़ी तरक्की देकर फोड़ लिया गया। और सबसे बड़ी बात यह, कि महावत खां, जिसकी गिनती साम्राज्य के सबसे बड़े सेनापतियों में थी, काबुल से बुलवा भेजा गया, और अब वही मुगल साम्राज्य का प्रधान सेनापति था।

२८ मार्च को होने वाली एक मुठभेड़ में शाही फौज की एक टुकड़ी जीत गई। अगले दिन बड़ा प्रचण्ड और निर्णायक युद्ध हुआ। रात का अंधेरा होने तक विद्रोहियों के पांव जमे रहे, पर उसके बाद उखड़ गए। हिम्मत टूट जाने पर वह उसी रात मांडू की ओर लौट पड़े।

पराजित और निराश विद्रोहियों को मांडू के किले में शरण मिली और वहां रुककर शाहजादे ने शाही फौजों का मुकाबला करने की दृष्टि से अपनी सेना को फिर से संगठित किया। शाहजादा परवेज और महावत खां उनका पीछा करते आ रहे थे और चांदा घाटी को पार कर चुके थे। यहां शाहजादा की फौज के हलके मराठा सवारों के एक दल ने उनको रोकने की और घेरने की कोशिश की, पर शाही सेनापति के सैन्य-कौशल के सामने उसकी एक न चली। शाही सेनापति कूटनीति में भी कम कुशल नहीं था और विद्रोही शाहजादे के कुछ सहायकों को भी उसने चुपके-

चुपके फोड़ लिया। कालियादह के पास की एक झड़प में खुर्रम की सेना की अग्रिम टुकड़ी ने धोखा दे दिया और और उसका सेनानायक शाही सेना से जा मिला।

किंकर्त्तव्य-विमूढ़ शाहजादे ने जब देखा कि वह उस जगह भी टिका नहीं रह सकता तो इस झूठी आशा से कि दक्खिन के अभेद्य दुर्गों में से किसी में जाकर शरण मिल जाएगी, वह और भी दक्खिन की ओर बढ़ गया। पर मुसीबत के वक्त और भी कितने ही उसका साथ छोड़ गए। पहले तो महावत खां के नाम लिखा गया जाहिद खां का एक पत्र पकड़ा गया जिसमें उसने शाहजादे को दगा देकर उधर मिल जाने का प्रस्ताव रखा था, और जब इस मामले को सख्ती के साथ निपटाने के बाद मुश्किल से उसे थोड़ा दम मिला था तो उसके एक विश्वस्त नौकर ने खानखाना के एक दूत को पकड़ लिया जो शाही सेनापति के पास उनका खत ले जा रहा था। उस खत के एक किनारे यह शेर लिखी हुई थी :

"एक सौ निगाहें मेरी ओर हैं,
नहीं तो इस मुसीबत से जान छुड़ा लेता।"

चकित और स्तब्ध शाहजादे ने खानखाना और उनके बेटों को अपने खीमे में बुलाया और वह खत उन्हें दिखलाया। बूढ़े सेनापति ने अपनी सफाई में थोथी दलीलें दीं, जिनका कोई असर नहीं हुआ। शाहजादे ने कस कर उनकी भर्त्सना की और उन्हें अपने ही खीमे के पास अपनी ही निगरानी में रहने का हुक्म दिया। दरब और उसके भाइयों के साथ भी वही किया गया जो उनके पिता के साथ हुआ।

इन नजरबन्दों को साथ लिए शाहजादा असीर के किले की ओर बढ़ा। वहां के दुर्गपति ने ऊंची तरक्की के प्रलोभन में पड़ कर वह किला उसके हवाले कर दिया। सामरिक महत्व के इस किले पर कब्जा हो जाने से शाहजादे का भविष्य कुछ समय के लिए तो उज्ज्वल दिखाई देने ही लग गया। पर गुजरात में उसके हिमायतियों की दाल नहीं गल पाई और इसलिए उसे अपनी भाग्य-परीक्षा के लिए कोई दूसरी जगह तलाश करने

के लिए मजबूर होना पड़ा। खानखाना और उनके बेटों को शाहजादा ने पहले तो इस किले में ही कैद करके पीछे छोड़ जाना चाहा, पर बाद को उसका इरादा बदल गया और वह उन्हें अपने साथ ही बुरहानपुर ले आया।

बुरहानपुर में शाहजादा ने दक्खिन के सुलतानों में से कुछ को अपनी ओर फोड़ने की व्यर्थ चेष्टा की। ये वही लोग तो थे जिनके दांत उसने लड़ाई में खट्टे किए थे। अन्त में खुर्रम को चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देने लगा। उत्तर से वह खदेड़ा ही जा चुका था। गुजरात भी उसके हाथ से जाता रहा था, और वहां के उसके सहायकों में से कितने ही मार डाले गए थे और कितनों ने उसका साथ छोड़ दिया था। जो उसके साथ रह भी गए थे उन पर भी पूरा विश्वास करना मुश्किल हो रहा था। अन्त में शाहजादा ने फिर अपने पिता के साथ सुलह करने की कोशिश की। बूंदी के राजा के बेटे के मार्फत उसने महावत खां के साथ बातचीत शुरू की, जो नर्मदा के उत्तरी तट पर पड़ाव डाले हुए था।

महावत खां इस तरह के मौके को चूकने वाला आदमी नहीं था। शाहजादा के पैगाम के जवाब में उसने कहलाया कि अगर सुलह करनी है तो उसके लिए खुद खानखाना आकर उससे बात करें। चालाक सेनापति ने सुलह की बातचीत शुरू करने के लिए जो शर्त लगाई उसका उद्देश्य स्पष्ट था। वह जानता था कि खुर्रम की सारी योजनाओं का स्रोत वह अनुभवी सेनापति ही था। अगर उस महारथी को उससे अलग कर दिया जा सके तो फिर बागी शाहजादे को घुटने टेकते कुछ भी देर नहीं लगेगी। अपनी आत्मकथा में जहांगीर ने लिखा है कि "उसका मुख्य उद्देश्य यही था कि शाहजादे से विश्वासघातियों के उस मुखिया को अलग कर दिया जाए जो इस सारी खुराफात और राजद्रोह की जड़ था।" इसके अलावा, 'खानखाना' के खिताब पर भी महावत खां की नजर थी और वह अब्दुर्रहीम की जिन्दगी अपनी मुट्ठी में रखना चाहता था। अपने रास्ते के कांटे को हटाने का यह एक स्वर्ण अवसर था।

खानखाना की गद्दारी ने शाहजादा के दिल में उनके बारे में सन्देह तो पहले ही पैदा कर दिया था, महावत खां की शर्त ने उसे और भी परेशानी में डाल दिया। पर और कोई चारा नहीं था, और शाहजादा उन्हें नदी के पार शाही सेनापति के पास भेजने के लिए राजी हो गया। उन्हें बन्धन-मुक्त करके खुर्रम ने उनसे आशा की कि वह ईमानदारी के साथ वहां उसका प्रतिनिधित्व करेंगे। उन पर पूरा विश्वास कर सकने की दृष्टि से उसने उनसे कुरान शरीफ पर हाथ रख कर शपथ लिवाई। यही नहीं, अपने ससुर के पिता के बड़प्पन की भावना को उकसाने की दृष्टि से शाहजादे ने उन्हें अपने हरम में ले जाकर अपनी बीवी और बेटों को भी लाकर उनके सामने झुका दिया और उनसे भी दीनता-पूर्वक कहलाया कि वह किसी भी हालत में उनके खिलाफ न जाएं और उन्हीं के हितों की ईमानदारी के साथ रक्षा करें। शाहजादे ने यहां तक कहा—"मेरे दिन खराब हैं और मेरी हालत बुरी है। मैं अपने को और अपनी इज्जत को आप ही के हवाले करता हूं। आप को हर हालत में वही काम करना है जिससे मुझे नीचा न देखना पड़े और न मेरी जिन्दगी बरबाद होने पाए।"

सुलह की बातचीत करने के लिए खानखाना शाही फौजों के खीमे की ओर बढ़े। यह पहले ही तय हो चुका था कि खानखाना नदी के दक्षिणी तट पर अपना खीमा डालेंगे और वहीं से पत्रव्यवहार द्वारा उत्तरी तट के साथ बातचीत चलाएंगे। शाहजादे का सबसे बड़ा समर्थक बैरम बेग ही अब तक, नर्मदा को पार करके इधर आने की शाही सेना की कोशिशों को बेकार करता आया था। यह विश्वासपात्र सहायक नदी को पार करने के सभी रास्तों पर कड़ी नजर रखता आया था। पर सुलह की बातचीत शुरू होने पर स्वाभावतः उसमें कुछ ढिलाई आ गई। इससे शाही सेना को वह मौका मिल गया जिसकी उन्हें कब से तलाश थी। खानखाना के लक्ष्य-स्थान तक पहुंचने के पहले ही शाही सेना के कुछ लोग रात के अंधेरे में छिपे-छिपे नदी पार कर इधर आ गए और विद्रोहियों पर अचानक टूट पड़े। बैरम की टुकड़ी बेखबर थी और वह घबड़ा गई। शाही सैनिकों ने

उसे छिन्न-भिन्न कर दिया, और जिसे जिधर सूझा उधर ही वह भाग गया।

आखिरकार जब खानखाना नदी के तट पर पहुंचे तब उन्होंने देखा कि वहां की स्थिति बिल्कुल ही बदल चुकी थी। अब वह न तो वहां पड़ाव डाल सकते थे और न पीछे ही लौट सकते थे। शाही सैनिक उन्हें हरगिज वापस नहीं जाने देंगे। विद्रोहियों को धोखा देकर उन्होंने उन पर जो हमला किया था उसी से यह साफ था कि खानखाना जिस काम के लिए आए थे उसकी सफलता का अब सवाल ही नहीं उठता। पर खानखाना की इस मुसीबत से ही तो शाही सेनापति फायदा उठाना चाहता था। शाहजादा परवेज ने उन्हें लिख भेजा कि अगर अब भी वह विद्रोहियों का ही साथ देंगे तो उन्हें इसके भयंकर परिणाम भोगने पड़ेंगे, पर अगर वह इधर आ मिलते हैं तो उनकी अच्छी तरक्की होगी। महावत खां ने मध्यस्थता करना स्वीकार किया। निरुपाय खानखाना इस प्रलोभन में फंस गए। अपनी शपथों को भूल कर वह नदी पार कर शाहजादा परवेज के पड़ाव पर जा पहुंचे और उसके सामने अपना मस्तक नवा दिया।

खानखाना का यह कार्य किसी प्रकार भी समर्थन योग्य नहीं माना जा सकता। नैतिक दृष्टि से उन्होंने भयंकर से भयंकर अपराध किया, इसमें सन्देह नहीं। कुरान शरीफ पर हाथ रख कर शपथ लेने के बाद भी एक परित्यक्त और संकटग्रस्त शाहजादे के साथ विश्वासघात करना ऐसा काम था जिसका औचित्य किसी तरह भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। अपने संकट से बचने के लिए उन्होंने सारे वादे तोड़ डाले। यहां तक कि हरम की असहाय नारियों की, दिल को हिला देने वाली, मिन्नतों और उनके आर्त्तनाद ने भी उन्हें, उन लोगों की इज्जत बचाने के लिए मृत्यु का आलिंगन करने की प्रेरणा नहीं दी जिनके साथ कि वह बंध चुके थे।

ऐसे मौकों पर खानखाना उसी कमजोरी के शिकार हो गए जो उनसे कहीं छोटे आदमियों में दिखाई देती है। उनके चित्र की उस समय की वह दुविधा उनके इस दोहे में भली भांति व्यक्त हुई है।

"अब रहीम मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम॥"

"अब तो रहीम बड़ी मुश्किल में पड़ा है; दोनों ही काम कठिन हैं। सच का रास्ता लूं तो जगत हाथ से जाता है और झूठ की ओर जाता हूं तो राम नहीं मिलते।"

बैरम बेग की टुकड़ी के पांव उखड़ जाने से, और खानखाना के विश्वास-घात से, शाहजादे की सारी आशाओं पर पानी पड़ गया। भरी बरसात में उन्होंने तापती नदी पार की और अपने पिछले विरोधी गोलकुण्डा-नरेश के इलाके में से होकर वह उड़ीसा और बंगाल की ओर चल दिया। और भी लोगों ने साथ छोड़ा, पर शाहजादा किसी न किसी तरह बढ़ता ही चला गया। किस्मत के कितने ही उलट-फेरों के बाद अन्त में १० नवम्बर, सन् १६२३ को जब वह उड़ीसा में दाखिल हो गया तब उसकी जान में जान आई।

खानखाना को साथ लिए महावत खां नर्मदा पार कर दक्षिण की ओर बढ़ा। तापती को भी उसने जल्दी ही पार कर लिया, और भागते हुए विद्रोहियों का कुछ दूर तक पीछा किया। इसी समय खानखाना ने महा-वत खां की छावनी से खुर्रम को घेर लेने का एक निष्फल प्रयत्न भी किया। उन्होंने उदयपुर के राणा के बेटे राजा भीम को, जो विद्रोहियों का एक जबर्दस्त सहायक था, लिखा कि अगर शाहजादा उनके (खानखाना के) बेटों को रिहा कर दे तो वह इस बात की चेष्टा करेंगे कि शाही सेना उनका पीछा करना छोड़ दे। उन्होंने यह धमकी भी दी कि अगर उनका यह सुझाव स्वीकार न किया गया तो नतीजा और भी खराब होगा। पर स्वाभिमानी राजपूत राजा ने इस सुझाव को ठुकरा दिया। जवाब में उसने लिखा कि उसके पास अभी भी पांच से छः हजार तक भरोसे के आदमी हैं, और अगर खानखाना ने उन तक पहुंचने की कोशिश की तो न सिर्फ उनके बेटे तलवार के घाट उतार दिए जायंगे, बल्कि उनको अपनी जान भी शायद ही बचने पाए। इस तरह, एक बार फिर खानखाना की सारी

चाल बेकार गई।

दक्खिन में कब से अशांति चली आ रही थी। वहां फिर से शान्ति स्थापित करने के लिए आवश्यक प्रशासन-व्यवस्था पूरी कर लेने के बाद शाही सेनापति ने बीजापुर के साथ सुलह की, और फिर खानखाना को लिए हुए १६ मार्च, सन् १६२४ को बुरहानपुर से चल पड़ा। विद्रोहियों के बढ़ाव को रोकने की दृष्टि से वह उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ा। इस कूच के दौरान खानखाना का खीमा बराबर ही शाहजादा परवेज के खीमे से लगा हुआ रहता था। बूढ़े सेनापति की अब तक की हरकतों ने सभी के अन्दर उनके प्रति सन्देह पैदा कर दिया था। इस निरुपाय बन्दी के दिन जब इस तरह इस यंत्रणा में बीत रहे थे तभी उसे यह भयंकर खबर मिली कि उसके बेटे दरब की निर्ममता के साथ हत्या कर डाली गई है।

उधर विद्रोहियों ने बंगाल पर अधिकार जमा लिया था। खुर्रम ने अब दरब को बंधनमुक्त करके उससे वफादारी की शपथ लिवाई और उसकी बीवी, बेटे और भतीजे (शाह नवाज के एक बेटे) को उसके अच्छे सलूक के लिए जामिन के रूप में अपने पास रख कर उसे वहां का सूबेदार बना दिया। पर उसने भी अपने पिता की ही तरह विश्वासघात किया। टोंस के किनारे महावत खां के हाथों बुरी तरह पराजित होने पर शाहजादा ने रोहतास से उसे लिखा कि अपनी सारी फौजें लेकर वह उससे राजमहाल दर्रे के मुहाने पर सकरीगली में मिले। बंगाल के इस नए सूबेदार ने देखा कि सब तरफ से खदेड़े हुए उस विद्रोही का साथ देने में कोई लाभ नहीं, और इसलिए उसने उस हुक्म पर कोई ध्यान नहीं दिया। जवाब में उसने लिख दिया कि वहां के जमींदार उठ खड़े हुए हैं और उन्होंने उसे कैद कर लिया है, और ऐसी सूरत में वह लाचार है। यह एक झूठा बहाना था, यह तो बिल्कुल ही साफ था। वस्तुतः दरब ने खुल्लमखुला विद्रोहियों का साथ छोड़ देने का फैसला कर लिया था और शाही सेना से जा मिलने की फिराक में था।

दरब के फिर खिलाफ होते ही अब्दुल्ला खां ने, बावजूद इसके कि

खुर्रम ने निर्दयतापूर्ण व्यवहार न करने की हिदायत दी थी, दरब के निरपराध बेटे और भतीजे की (जो उसके पास जामिन के रूप में थे) निर्ममतापूर्वक हत्या कर दी। टोंस की लड़ाई के बाद जब परवेज और महावत खां विहार की ओर बढ़े तब शाहंशाह का बुलावा पाकर शाहजादा, उस सबे को अपने सहयोगी के जिम्मे छोड़, शाही दरबार के लिए रवाना हो गए। महावत खां ने तब अपनी ही जिम्मेदारी पर दरब खां को बंगाल से बुलवा भेजा और एक शाही हुक्मनामा मंगवा लिया कि "ऐसे निकम्मे आदमी को जिन्दा रखने का कोई मतलब नहीं है।" सूबेदार का सिर धड़ से अलग कर दिया गया, और महावत खां ने अपने ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी खानखाना को चिढ़ाने की नीयत से उसके बेटे के उस सिर को तरबूज की तरह एक खूबसूरत तौलिये से ढक कर उनके पास तोहफे के तौर पर भेज दिया। खानखाना तो खुद ही बन्दी थे। उस असहाय अवस्था में अपने प्यारे बेटे के सिर को देखकर उनके मुंह से इतना ही निकला—"तरबूज शहीदी अस्त।" (तरबूज शहीद हो गया।)

अपने जवान बेटे और निरपराध पोते की निर्मम हत्याओं ने बूढ़े खानखाना का दिल तोड़ दिया। वह अपने दुर्भाग्य की चरम सीमा पर जा पहुंचे थे। पर भाग्य ने शीघ्र ही उन पर दया दिखाई।

मार्च सन् १६२६ में खुर्रम ने शाहंशाह की शर्तें स्वीकार कर लीं। पर नरजहां के लिए एक नया खतरा पैदा हो गया था। महावतखां "मुगल साम्राज्य का सबसे बहादुर और फौलादी आदमी था और उससे बड़ा सेनापति और राजनीतिज्ञ दूसरा कोई नहीं था।" अब तक तो वह विद्रोही शाहजादा खुर्रम को दबाने के काम में लगा हुआ था, पर यह काम पूरा हो जाने के बाद वह मुगल गद्दी के लिए नूरजहां के नुमाइन्दे शहरयार का समर्थन न कर परवेज को गद्दी पर बिठाने के पक्ष में था। मलका और इस सेनापति के बीच जो झगड़ा पहले से ही चला आ रहा था वह अब इस मामले के कारण और प्रचण्ड हो गया। मलका अपने पक्ष को तभी सुरक्षित समझ सकती थी जबकि महावत खां को उसके रास्ते से हटा दिया

जाए। पर उसके खिलाफ किसे भेजा जाए ? कोई मुसीबत आने पर खानखाना का इस्तेमाल किया जा सके, यह खयाल स्पष्ट ही नूरजहां के मन में रहा होगा और उसने कोशिश की होगी कि जहांगीर का रुख उनके प्रति नरम पड़ जाए। साल भर पहले, शाही हुक्म के मुताबिक, परवेज ही उस पराजित सेनापति को कश्मीर में शाहंशाह के दरबार में लेकर हाजिर हुआ था। जहांगीर ने अपने पिछले 'अतालीक' को सौहार्द और स्नेह के साथ ग्रहण किया था। जब खानखाना उनके पांवोंपर गिर पड़े थे और "शर्म की वजह से अपना सिर जमीन से ऊपर उठाने को राजी नहीं हो रहे थे," तब शाहंशाह ने उन्हें यह कहकर तसल्ली दी थी कि दोष उनका नहीं, परिस्थितियों का था। "न तुम्हारा ही उन पर कोई वस था और न हमारा ही, और जितने शर्मिन्दा तुम हो उससे ज्यादा हम हैं।" इसके बाद उन्हें एक लाख रुपये की बख्शीश देकर शाहंशाह ने अपने पिछले शिक्षक के सारे ओहदे और खिताब उन्हें वापस दे डाले थे, और इन सबके ऊपर से, कन्नौज में मलकुसा की जागीर भी (१६२५)।

अपने स्वामी के प्रति अपनी कृतज्ञता के आवेश में खानखाना ने नीचे का शेर अपनी अंगूठी पर खुदवा लिया था :

"अल्लाह के फजल से, जहांगीर के रहम से—
दो-दो बार मुझे जिन्दगी मिली, दो-दो बार खानखाना।"

खानखाना को अपनी ओर कर लेने की नूरजहां की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति ठीक वक्त पर उसके काम आई। महावत खां ने अचानक बगावत करके जब जबर्दस्त हमला कर दिया तब इकहत्तर वर्ष के बूढ़े इस सेनापति को ही उस विद्रोही सेनापति का दमन करने के लिये नियुक्त किया गया। खानखाना की बड़ी खातिर हुई। महावत खां की जागीर तो उन्हें दे ही डाली गई, इसके ऊपर से मलका ने अपने निजी खजाने से उन्हें बारह लाख रुपये बख्शीश में दिये। पर हर तरह से सम्मानित किए जाने के बाद सेनापति खानखाना अपने विरोधी का दमन करने की गरज से सिन्धु नद को पार ही कर पाए थे कि वह लाहौर में बीमार पड़ गए। उस दीर्घ और संघर्षपूर्ण जीवन

ने उनकी सारी शक्ति मानां चूस ली थी। हाल की विपत्तियों ने लाहे के शिकंजे जैसी उनकी काया को जर्जर कर डाला था। लाहौर से वह दिल्ली लाए गए, पर यहां आकर भी उनकी हालत सुधर नहीं सकी। सन् १६२७ में वह इस दुनिया से कूच कर गए। हुमायूं के मकबरे के सामने उन्होंने खुद ही अपने लिए जो शानदार मकबरा बनवाना शुरू किया था, पर जो अधूरा ही रह गया था, उसी में उन्हें दफनाया गया।

इस देश के रहने वालों के दिल में रहीम की याद मुख्यतः कवि और साहित्यकार के रूप में बनी हुई है। ऐसे 'अमीरों' और बड़े आदमियों की हमारे इतिहास में कमी नहीं है जिनकी सैनिक प्रतिभा और राजनैतिक कुशलता के कारण उनके राजों और बादशाहों ने उन्हें ऊंचे से ऊंचे ओहदे दिए थे। पर लोग उन्हें जल्द ही भूल गए। अब्दुर्रहीम सिर्फ इसलिये आज भी याद किए जाते हैं कि अपने समकालीन अनेक विख्यात व्यक्तियों से विपरीत उन्होंने अपनी सहानुभूति और प्रेम से लोगों के दिलों को जीतने की कोशिश की थी। आम लोगों की भाषा और उनके साहित्य को जो उनकी देन रही, कवियों और कलाकारों को जिस प्रकार उन्होंने प्रेरणा दी और उन्हें अपने संरक्षण में लिया, और विभिन्न मजहबों और मतों के प्रति उनका जो सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रहा, उनके कारण वह अपने अन्य समकालीन लोगों से बिल्कुल ही अलग और विशिष्ट दिखाई देते थे। मध्यकालीन युग के इतिहास में वह उन इने-गिने लोगों में थे जो एक ही साथ तलवार और कलम दोनों के धनी (साहिब-उस-सैफ व कलम) थे।

अब्दुर्रहीम साहित्यिक और बोलचाल, दोनों ही प्रकार की भाषाओं के माहिर थे—चाहे वह भारतीय भाषाएं हों, चाहे इस्लामी, और उन्होंने फारसी और तुर्की ही नहीं सँस्कृत तक में कविता की। पर उनकी कवित्व-प्रतिभा सबसे अधिक उत्तर भारतीय हिन्दी की विभिन्न बोलियों में चमकी। उनके समकालीन विद्वानों में उनकी टक्कर के अनुवादक कम ही थे। फारसी गद्य पर उनका कैसा जबर्दस्त अधिकार था, इसका प्रमाण उनके पत्रों से मिलता है। उनकी उदारता ने विभिन्न जातियों और मज-

हवों के लेखकों को उनके दरबार की ओर आकृष्ट कर लिया था। अपने इस संरक्षक की वीरता और दानशीलता की प्रशंसा में उनकी कलमों से कविताओं की अजस्र धारा वहती रहती थी।

हुमायूं से लेकर वहादुर शाह (दूसरे) के राज्य तक, मुगल साम्राज्य की सांस्कृतिक नीति की एक बड़ी विशेषता यह रहती आई थी कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को वरावर बढ़ावा और राजकीय संरक्षण दिया। यहां तक कि औरंगजेव भी इसी नीति पर चले। हिन्दी साहित्य के इतिहास से यह वात भली भांति स्पष्ट है। हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग अकवर का ही काल था। हिन्दी कविता का और हिन्दी के कवियों का विकास करना मुगल दरवार के लिए एक रिवाज सा वन गया था। अकवर खुद भी एक आशु-कवि थे। वीरवल ही नहीं, खुश्कमिजाज टोडरमल तक ने कुछ पद्य लिखे। पर रहीम हिन्दी कविता में जितने चमके थे उतना और कोई भी मुसलमान कवि नहीं चमका—न उनके पहले और न बाद को।

मलिक मुहम्मद जायसी की भांति, किसी महाकाव्य और रहस्यवादी साहित्य की रचना करना रहीम की प्रतिभा के अनुरूप नहीं था। न ही तुलसी सूर या कवीर की भांति उनकी कविता किसी धार्मिक पुनरुत्थान की वाणी है। रहीम ने नैतिकता को अपनी कविता का विषय बनाया, और हिन्दी छन्दशास्त्र पर अपना अधिकार सिद्ध करते हुए कई छन्दों में पद्य लिखे। इस दृष्टि से कम ही कवि उनसे आगे वढ़ पाए होंगे। उनके दोहों में रसिकोक्ति और परिहास की छटा विखरी हुई है। और उनके वरवै भाव और रस से भरपूर हैं, और उनमें मानव और प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण है। रहीम की कविता में जिन भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है वह आज भी उतने ही नए और प्रभावोत्पादक हैं जितने चार सौ वर्ष पहले थे। नीति सम्बन्धी उनके दोहों का आज भी अपनी रोज-मर्रा की वातचीत में हम वड़े शौक से इस्तेमाल करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में हो या व्यक्तिगत जीवन में, रहीम के दोहों ने आम लोगों के लिए आदर्श उपदेश-वाणी का रूप ले लिया है। तुलसी और कवीर की ही तरह रहीम

का भी नाम हिन्दी-भाषी प्रदेशों के गांव-गांव में हर किसी की जबान पर है।

रहीम की लोकप्रियता के कारण स्पष्ट हैं। वह केवल कल्पना की उड़ाने नहीं भरते। वह जानते थे और उन्होंने देखा कि जीवन के व्यावहारिक पक्ष से अलग हो जाने पर कविता स्थायी नहीं होती। उनकी रचनाओं में हमें कल्पना और वास्तविकता का अद्‌भुत सम्मिश्रण मिलता है जो कम ही कवियों में इस सीमा तक पाया जाता है। दूसरे, रहीम की कविता में भावों का जो प्रवाह है उसके पीछे अनुभव-जनित व्यावहारिक बुद्धि का बल है जो उन्हें अच्छे और बुरे, सभी तरह के लोगों के सम्पर्क में आने से प्राप्त हुआ। उनकी कविता किसी पाखण्डी उपदेशक के नीति-वाक्य की तरह नहीं लगती, बल्कि उनकी अपनी निजी और गहरी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है, जिसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन है जिन्हें एक मुगल अमीर के रूप में उन्होंने अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में व्यावहारिक पाया। किन्तु उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण तो यह है कि हिन्दी की तीनों प्रमुख बोलियों—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली—पर उनका समान रूप से और पूरा अधिकार था। इस प्रकार उनकी लोकप्रियता का क्षेत्र उन कवियों की तुलना में कहीं अधिक व्यापक था जिन्होंने इनमें से किसी एक में ही लिखा। उनका शब्द-भण्डार इतना समृद्ध था और साथ ही उनमें इतनी विविधता थी कि उसके कारण उनकी रचनाएं आम लोगों तक पहुंचीं। अपनी बात वह जिस आत्मपरक और सरल ढंग से रखते हैं वह किसी भी वर्ग, किसी भी धर्म अथवा किसी भी बौद्धिक धरातल के पाठक या श्रोता के हृदय को छू लेती है।

अब्दुर्रहीम की हिन्दी रचनाओं को भाषा, विषय और शैली के आधार पर मोटे तौर से तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। पहला वर्ग दोहों का है जो मुख्यतः ब्रजभाषा में हैं। उनकी संख्या सात सौ बताई जाती है, पर उनमें से चार सौ बारह ही उपलब्ध हैं। इनका सम्बन्ध भक्ति और शृंगार रसों से है। पर अधिकतर उनमें जीवन के नैतिक पक्ष का प्रतिपादन है।

उनकी विविध प्रकार की अनुभूतियां उनकी रसिकोक्तियों और अलंकारिकता की छटा से रंगीन हो उठी हैं, और वह जितनी आकर्षक हैं उतनी ही प्रभावोत्पादक भी । कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

"रन वन व्याधि विपत्ति में, रहिमन मरउ न रोइ ।
जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गए न सोइ ।।"

"रहीम कहते हैं कि रण में, वन में, व्याधि में (बीमारी) में, और विपत्ति में रो-रोकर मत मरो। जननी के जठर (पेट) में जो रक्षा करता रहा था वह हरि सो नहीं गया है।"

"रहिमन चोट सुतीर के, चोट खाइ बच जाय ।
नैन बान के चोट ते, धनवन्तरि न बचाय ।।"

"रहीम कहते हैं कि तीखे से तीखे तीर की चोट खाकर कोई बच जा सकता है, पर नैन-बाण की चोट खाए हुए को धन्वन्तरि वैद्य भी नहीं बचा सकते ।"

"खैर, खून, खांसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान ।
रहिमन दाबे ना दबै, जानत सकल जहान ।।"

"रहीम कहते हैं कि भलाई, हत्या, खांसी, खुशी, बैर, प्रीति और मदपान को दबाने से दबाया नहीं जा सकता—यह सारा जहान जानता है।"

"तब हीं लौं जीवो भलो, दीवो होय न धीम ।
जग में रहिबो कुचित गति, उचित न होय रहीम ।।"

"रहीम कहते हैं कि जीना तभी तक भला है जब तक देना धीमा नहीं पड़ता (देने के लिए हाथ में कुछ रहता है) । दुर्गति की स्थिति आ जाने पर जगत में रहना उचित नहीं।"

रहीम की रचनाओं के दूसरे वर्ग में उनके बरवै (१९ मात्राओं के छन्द)हैं जो अवधी बोली में लिखे गए हैं। ये मुख्यतः शृंगार रस के हैं। उनका "बरवै नायिका भेद' हिन्दी साहित्य में शृंगार रस की एक मानी हुई रचना है। समझा जाता है कि इस छन्द का हिन्दी में प्रयोग करने वाले पहले कवि रहीम ही थे।

रहीम ने इस छन्द में कविता लिखना कैसे शुरू किया, इसके बारे में एक मजेदार कहानी प्रचलित है। कहा जाता है कि रहीम का एक मुंशी अपनी शादी के सिलसिले में छुट्टी पर चला गया। छुट्टी बीत गई, पर वह लौट कर नहीं आया। आखिर जब जिन्दगी की कठोर वास्तविकता ने उसका ध्यान खींचा और उसकी प्रेम-निद्रा टूटी तब उसे अपने काम पर लौटने का ख्याल आया। सोच और फिक्र में पड़ा वह झिझकता सा अपनी स्त्री के पास गया, कि विदा होते समय उसे एक बार और चूम ले। स्त्री ने उसकी परेशानी समझ ली और उसे ये पंक्तियां लिख कर दीं ताकि वह उन्हें अपने मालिक को दे दे, जो स्वयं कवि थे :

"प्रेम प्रीति के बिरवा, चलेहु लगाय।
सींचन की सुधि लीजो, मुरझि न जाय॥"

"प्रेम-प्रीति का पौधा तो तुम लगा चले, इसे सींचने की सुध लेना—कहीं यह मुरझा न जाए।"

रहीम के बरवै के विषय अधिकतर संस्कृत के कामसूत्र और नाट्य शास्त्रों से ही लिए गए हैं और उन्हीं की परम्परा में हैं, पर अपनी मार्जित रुचि के कारण उन्होंने शिष्टता की सीमा को कभी भी नहीं लांघा।

शृंगार रस के अतिरिक्त रहीम के कुछ बरवै भक्ति, नीति और अन्य विषयों से भी संबंधित हैं। सूरदास के पदों, बिहारी के दोहों और तुलसी की चौपाइयों की ही भांति रहीम के बरवै हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं। इनमें विविध प्रकार के नायक-नायिकाओं का और उनकी उत्तेजनाओं, प्रेमाभिव्यक्तियों और हाव-भावों का बड़ा ही सजीव चित्रण है। भाषा भी बड़ी ही उच्च कोटि की है। मधुर और सही शब्दों के चयन ने उसे और भी आकर्षक बना दिया है।

कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

"कौन रोग द्वै छतियां, उकस्यो आइ।
दुखि दुखि उठत करेजवा, लगि जनु जाइ॥"

"यहां एक अज्ञातयौवना मुग्धा नायिका, जिसे अपने यौवन के आवि-

भाव का पता ही नहीं है, परेशान है कि उसकी छातियां बढ़ती क्यों जा रही हैं। क्या उन्हें कोई रोग हो गया है ?"

इसी तरह एक प्रौढ़ा नायिका की बात है :

"भोरहिं बोल कोइलिया, बढ़वत ताप।
घरी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप॥"

"विरहिणी नायिका की व्यथा बढ़ जाती है जब सवेरे-सवेरे ही कोयल बोल उठती है। वह उससे अनुरोध करती है कि सखी, घड़ी भर चुपचाप रही आ।"

सौतिया डाह से जली-भुनी एक नारी कहती है :

"बालम अस मन मिलयउं, जस पय पानि।
हंसनि भइल सवतिया, लइ बिलगानि॥"

"मैंने अपने बालम के साथ अपना मन दूध और पानी की तरह मिला दिया, पर मेरी सौत ने हंसिनी की तरह अलग-अलग कर दिया।"

गुरु-भक्ति में गद्‌गद हो कवि कहते हैं :

"पुनि पुनि वंदहुं गरु के पद जलजात।
जिहिं प्रताप ते मन के तिमिर बिलात॥"

"गुरु के चरण-कमलों की बार-बार वन्दना करता हूं, जिनके प्रताप से मन का अंधकार विलीन हो जाता है।"

रहीम ने अपने कुछ बरवै तो फारसी में भी लिखे :

"कै गोयम अहवालम पेश निगार।
तनहा नजर न आयद, दिल लाचार॥"

"प्रेमिका कहती है—मैं अपनी बेबसी कैसे प्रकट करूं ? मैं अपने प्रेमी को कभी अकेला पाती ही नहीं।"

रहीम की रचनाओं का तीसरा और अन्तिम वर्ग वह है जो दोहों और बरवै से भिन्न छन्दों में लिखी गई हैं। ये घनाक्षरी, सवैया, सोरठा, मालिनी और कुछ अन्य छन्दों में रची गई कविताएं हैं। अभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार इनकी भाषा बदलती रही है। इस तरह की कुछ कविताएं ब्रज-

भाषा में हैं, कुछ अवधि में, कुछ खड़ी बोली में और कुछ मिलीजुली बोलियों में। अपने काल की विभिन्न बोलियों पर रहीम का कैसा अधिकार था इसका बहुत अच्छा नमूना उनका 'मदनाष्टक' है, जिसमें संस्कृत, फारसी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली का बड़ा ही सामंजस्यपूर्ण मिश्रण हुआ है। इन छन्दों का विषय जहां एक ओर भक्ति रस है जिसमें हिन्दू धर्म के आकर्षक स्वरूपों पर प्रकाश पड़ता है, वहां दूसरी ओर शृंगार रस, जिसमें विरह-वेदना की तीव्र ज्वाला भी है और प्रेमिका की रूप-माधुरी की छटा भी। नीचे के छन्द में खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप निखर उठा है :

"शरद निशीथ, चांद की रोशनाई,
सघन वन निकुंजे, कान्ह वंशी वजाई।
रति, पति, सुत, निद्रा, साइयां छोड़ भागीं,
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥"

"शरद ऋतु की मध्य रात्रि में चन्द्रमा की रोशनी में, सघन वन के कुंज में कृष्ण ने बांसुरी जो बजाई, तो अपनी काम-क्रीड़ा को, पति को, पुत्र को, निद्रा को, सबको छोड़ वह उनकी ओर भागीं। इस मदन ने यह क्या किया !"

"दीन्ह चहै करतार जिन्हें सुख, सो तो रहीम टरै नहिं टारे,
उद्यम पौरुष कीन्हें विना, धन आपुहि आवत हाथ पसारे।
देव हंसे अपनी अपना विधि के परपंच न जात बिचारे,
बेटा भयो वसुदेव के धाम, औ दुंदुभि बाजत नन्द के द्वारे ॥"

"रहीम कहते हैं कि जिसे विधाता सुख देना चाहता है, उसके सुख को कोई टाल नहीं सकता। विना पुरुषार्थ और उद्यम किए ही उसके पास धन हाथ बढ़ाते ही आ जाता है। विधि के प्रपंच कैसे अजीब होते हैं, कि कुछ समझ में ही नहीं आता और देवता भी उन पर आपस में हंसते हैं। देखो न, बेटा तो वसुदेव के घर हुआ, और दुन्दुभि नन्द के द्वार पर बज रही है।"

और अन्त में, एक सोरठा देखिये :

"गई आग उर लाय, आगि लेन आई जो तिय,
लागी नहीं बुझाय, भभकि-भभकि बरि बरि उठै।"

"जो स्त्री आग लेने आई थी वह हृदय में आग लगा गई। यह आग ऐसी है कि लग जाने पर बुझती नहीं है, बल्कि और भी भड़क-भड़क कर जलने लगती है।"

थोड़े में कहा जाए तो रहीम ने अपने काल के सभी लोकप्रिय छन्दों में कविता रचने के प्रयोग किए थे। चौपाइयां अवश्य उन्होंने नहीं लिखीं, पर स्पष्ट ही इसका कारण यही था कि वह कोई महाकाव्य नहीं लिखना चाहते थे, जिसके लिए यह छन्द विशेष रूप से उपयुक्त है।

अकबर के काल के हिन्दी कवियों में रहीम का एक प्रमुख स्थान है। उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिनकी कवित्व-प्रतिभा इनसे अधिक थी। और यह तब, जबकि इन्होंने मुसलमानी वातावरण में पैदा होकर और बराबर उसी के अन्दर रहते हुए अपने अन्दर हिन्दी की रुचि पैदा की। अपनी सरकारी हैसियत का ख्याल रखते हुए उनके लिए जितना अधिक संभव था, उन्होंने हिन्दी की सभी प्रमुख शाखाओं—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली —की सेवा की। इन सभी पर उनका अधिकार इतना अधिक था कि दंग रह जाना पड़ता है। उनकी कविताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वह हिन्दी काव्य शास्त्र के महारथी थे। उनकी शैली का प्रसाद गुण, उनकी अभिव्यक्ति का माधुर्य, उनके शब्दों का मार्मिक चयन और अलंकारों का नपा-तुला उपयोग पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुरूप ही हुआ है। उनके छोटे-छोटे बरवै अपने आप में सम्पूर्ण, और अर्थ में बड़े गूढ़ हैं। उनके 'बरवै नायिका भेद' में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का वर्गीकरण, 'नगर शोभा वर्णन' में विभिन्न जातियों की नारियों का जीता-जागता और सही चित्रण, और 'दोहावली' में नीति संबंधी जानदार दोहे हिन्दी भाषा और साहित्य को रहीम की बहुत बड़ी देन हैं।

कवियों और विद्वानों को अब्दुर्रहीम से जो संरक्षण मिलता था उसकी कितनी ही कहानियां प्रचलित थीं। उनकी मजलिसों में शामिल होने वाले कवियों की संख्या कितनी है और शाही दरबार में शामिल होने वालों की कितनी—इसे लेकर बराबर होड़ सी लगी रहती थी। वह स्वयं भी, अपने

निरक्षर स्वामी अकबर की तुलना में, कविता के कहीं बड़े पारखी थे। विद्वानों और कवियों के एक प्रमुख आश्रयदाता के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। दूर-दूर के देशों से बड़े आलिम और विद्वान उनके दरबार में अपने पांडित्य की धाक जमाने के लिए आकर जुटते थे। वह भी विना वर्ण, धर्म या जाति का भेदभाव किए प्रत्येक को उसकी श्रेष्ठता के हिसाब से पुरस्कृत करते थे। सच पूछा जाए तो उनकी उदारता और दानशीलता दोष की सीमा तक जा पहुंची थी। किंवदन्तियों के अनुसार, वह अपने काल के राजा भोज थे। आत्मश्लाघा के लिए उनके अन्दर जो कमजोरी थी उसके कारण वह उन कवियों पर लाखों रुपये लुटा देते थे जो अपने आश्रयदाता की वीरता और दानशीलता के गुण गाने में एक-दूसरे से बाजी मारने की कोशिश करते थे। फारसी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के ग्रंथ खानखाना की दानवीरता और उदारता की कहानियों से भरे पड़े हैं।

एक आधुनिक फारसी विद्वान ने लिखा है—"मुगल दरबार के ही नहीं, सम्पूर्ण एशिया के साम्राज्य में साहित्यिक आश्रयदाताओं के नभ-मण्डल में एक ही चमकता हुआ सितारा है, और वह है खान-ए-खानां का ज्वलन्त व्यक्तित्व। फारसी काव्य और साहित्य को प्रश्रय देने वालों में उनका मुकाबला फारस, हिन्दुस्तान, मध्य एशिया और तुर्की के समकालीन शासकों में एक भी नहीं कर सकता। एशिया के शाहंशाहों में निस्सन्देह अकबर का स्थान प्रमुख था, पर उनके दरबार के अमीर अब्दुर्रहीम खान-ए-खाना उनसे भी आगे थे। आश्रयदाता के रूप में उनकी महानता का अन्दाज इसी से लग सकता है कि फारसी कवि फारस के ही दरबार में उनका गुणगान करते नहीं थकते थे, और वह भी खुद फारस के शाह के ही मुंह पर।"

फारसी काव्य-साहित्य को अपनी रचनाओं के रूप में रहीम की देन जरूर नगण्य सी ही थी, क्योंकि फारसी कविता लिखने के प्रति वह उदासीन ही रहे। किन्तु फारसी गद्य और पद्य के कोष को भरने और उसके

साहित्य में नव जागृति लाने की दिशा में उनके प्रयत्न प्रशंसनीय थे। उस समय के सभी कवियों को उनसे प्रोत्साहन मिला, चाहे वह मुगल दरबार के कवि रहे हों, अथवा बाहर के। फारसी और अरबी विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या जो भारत में आकर बस गई थी, उसका मुख्य श्रेय रहीम को ही था। नजरी, उर्फी, जुहुरी, शकीबी, अनीसी, नसरी और मजहरी जैसे बड़े-बड़े तत्कालीन कवि उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। रहीम का व्यक्तित्व फारसी कवियों के लिए एक प्रेरणादायक विषय बना हुआ था। उनकी तारीफ में लिखी हुई कविताएं (कसीदे) ही उन कवियों की सर्वश्रेष्ठ रचनाएं हैं। उर्फी ने उनकी तारीफ में सात प्रशस्तियां लिखीं, जिनमें से पहली इतनी लोकप्रिय हुई कि एक-दो नहीं सात-सात प्रमुख कवियों ने उसी काफिये और उसी छन्द में कविता लिखना शुरू कर दिया। गजल अन्तर्मुखी कविता लिखने के ही काम आती है और अपने आश्रय-दाता की तारीफ उसमें नहीं की जा सकती, पर रहीम की लोकप्रियता ने उन्हें एक आदर्श महबूब का प्रतीक बना दिया और उस रूप में उन पर कई गजल लिखी गईं। इसी प्रकार, साकीनामा भी कोई बहुत चालू छन्द नहीं है और शायद ही किसी आश्रयदाता की तारीफ में एक से अधिक कविता इस छन्द में लिखी गई हो। पर रहीम को ही यह असाधारण सौभाग्य प्राप्त हुआ कि सात कवियों ने अपने साकीनामा लिखे। इनमें से दो, शकीबी और नबी के साकीनामा तो फारसी में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं।

हिन्दी के किन-किन कवियों ने खानखाना का आश्रय प्राप्त किया, इस सम्बन्ध में उस समय का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पर उस समय लिखे गए कुछ छन्दों से और कुछ किंवदन्तियों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि रहीम उनके प्रति भी मुक्तहस्त थे। हिन्दी के कवि गंग ने खानखाना की प्रशंसा में पन्द्रह कविताएं लिखीं। उनमें से एक तो रहीम को इतनी भा गई कि उन्होंने कवि को छत्तीस लाख रुपये दे डाले। कहा जाता है कि केशवदास ने खानखाना के बड़े बेटे शाह नवाज खां के अनुरोध पर ही

अपनी 'जहांगीर चन्द्रिका' लिखी थी। उन्होंने खानखाना की प्रशंसा में भी कुछ कविताएं लिखी थीं। जिन दूसरे उल्लेखनीय कवियों ने खानखाना की प्रशंसा में छन्द लिखे वे हैं—जार, मण्डन, प्रसिद्ध, हरिनाथ अलकुल, तारा कवि और मुकुन्द।

खानखाना के अहमदावाद के पुस्तकालय में हस्तलिखित ग्रंथों का उनका सबसे ज्यादा कीमती संग्रह था। १५८३ में उसके स्थापित होने के बाद से रहीम उत्तरोत्तर उसे बढ़ाते चले गए थे। इसमें विभिन्न विषयों के कितने ही दुर्लभ और रोचक ग्रन्थ थे। खानखाना ने कितने ही सुयोग्य कर्मचारी रख छोड़े थे जो उन हस्तलिखित ग्रन्थों की नकल और उनका संशोधन करते थे, अपूर्ण ग्रन्थों को पूरा करते थे और उन्हें चित्रित करते थे। अपने पुस्तकालय की व्यवस्था पर और उसमें नए से नए ग्रन्थों की पूर्ति के लिए खानखाना कुछ भी उठा नहीं रखते थे और पानी की तरह रुपया बहाते थे। इस पुस्तकालय की मुख्य विशेषता यह थी कि जिन-जिन प्रमुख कवियों ने उनके दरबार की शोभा बढ़ाई थी उन सबके अपने हाथ के लिखे 'दीवान' उसमें मौजूद थे। आज भी भारत के प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध पुस्तकालय में ऐसे कुछ न कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ मौजूद हैं जिनमें खानखाना के हाथ के लिखे हुए नोट हैं। ये निश्चय ही पहले उनके पुस्तकालय में रहे होंगे।

८

अब्दुर्रहीम खानखाना मध्यकालीन भारत के कुछ अत्यन्त विशिष्ट व्यक्तियों में गिने जा सकते हैं। अकबर के दरबारियों में से किसी भी दूसरे की प्रतिभा इतनी बहुमुखी नहीं थी जितनी रहीम की। युद्ध सम्बन्धी समस्याएं हों या शान्ति-सम्बन्धी, विद्वता का क्षेत्र हो अथवा बुद्धि-चातुर्य का, कविता हो अथवा कूटनीति-रहीम सभी जगह चमकते थे। अकबर मानव-चरित्र के अच्छे पारखी थे और अपने दरबार के लिए उन्होंने चुन-चुन कर रत्न खोज निकाले थे। अपनी राजसभा के नवरत्नों में रहीम को शामिल करके उन्होंने अपनी उस परख का बड़ा अच्छा परिचय दिया था।

अब्दुर्रहीम की शिक्षा-दीक्षा अकबर की ही देख रेख में और पूरब के सबसे अधिक प्रबुद्ध और शानदार दरबार में हुई थी, और जहां एक ओर वह एक मंजे हुए दरबारी, बहुत अच्छे सिपाही, चतुर कूटनीतिज्ञ और योग्य प्रशासक थे, वहां दूसरी ओर अपने आश्रयदाता की ही तरह वह विद्या-व्यसनी और विद्वानों के भक्त थे।

सार्वजनिक जीवन में नैतिकता का उनका स्तर अपने जमाने के 'अमीरों' के राजनैतिक आचरण की तुलना में न ऊंचा ही था और न नीचा ही। उनका चरित्र दुरूह सा था, और कभी-कभी तो उनके सम्पर्क में आने वालों को वह एक पहेली जैसे लगते थे। न वह कभी किसी के खून के प्यासे हुए, और न उन्होंने बदले की भावना से कभी कुछ करना चाहा। अपने शत्रु को, या किसी युद्ध के अपने प्रतिपक्षी को भी, वह अपना मित्र बना लेना जानते थे। दरबारों में उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक आकर्षक रहता था। दूसरों के साथ पेश आने पर वह जिस आभिजात्य का परिचय देते थे, उद्देश्यों और लक्ष्य की जो ऊंचाई अपने सामने रखते थे और तेज-

स्विता के साथ-साथ जो मिठास बरतते थे उनके कारण वह मुगल साम्राज्य के बड़े से बड़े 'अमीरों' में गिने जाने लगे थे।

मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच वह कोई भेदभाव नहीं रखते थे। एक ओर उनका तुर्की रक्त और दूसरी ओर उनके चरित्र में भारतीयता का पुट—इन दोनों के कारण दोनों ही जातियां उन्हें निष्कपट रूप में प्यार करती थीं। जिस शान-शौकत और रईसी के साथ वह रहते थे उनमें भला कोई उनका क्या मुकाबला करता ? रुपया तो वह पानी की तरह बहाते थे। पर उनकी रुचि बहुत ही मार्जित थी, और जिस तरह वह अपने ऊपर खर्च करना जानते थे उसी तरह दूसरों के लिए भी मुक्त-हस्त और दयालु थे। जरूरतमन्दों के लिए वह 'किबला' थे, और अशरण के शरण। यहां तक कि कभी-कभी तो शाहंशाह के जिस कोपभाजन को कहीं भी जगह नहीं मिलती थी उसे भी वह शाहशाह की नाराजगी की परवाह न कर अपने पास रख लेते थे। दूसरों के प्रति उनके हृदय में जो सहानुभूति थी और जिस तरह वह उनकी मदद करते थे उसे देखते वह सचमुच ही दरियादिल या करुणा-सागर कहे जा सकते थे। कोई याचक कभी उनके पास से निराश लौटा हो, यह किसी ने नहीं देखा। किसी को कुछ देने का सवाल उठने पर वह कर्ज ले सकते थे, पर उसे खाली हाथ नहीं जाने दे सकते थे। अपनी बराबरी के लोगों के सामने भले ही वह अकड़ दिखाएं, पर जो उनके सामने झुकता था उसके प्रति वह नरम और उदार थे।

अब्दुर्रहीम के अन्दर दोष नहीं थे, यह बात नहीं। वह दुनियावी आदमी थे। वह वही करते थे जो उन परिस्थितियों में उन्हें अपने लिए फायदेमन्द दिखाई देता था। जीवन के लिए उन्होंने कुछ निश्चित सिद्धान्त नहीं बना रखे थे, और न उनके सामने कोई ऐसे ध्येय थे जिनके लिए वह अपनी जान दे सकते हों। सर्वथा असहाय शाहजादा खुर्रम के प्रति उन्होंने, कुरान शरीफ पर हाथ रख कर शपथ लेने और अबला नारियों के करुण विलाप के बाद भी, जिस तरह विश्वासघात किया था, उससे उनकी प्रतिष्ठा

पर काफी चोट पहुंची। दक्खिन के मामलों में उन्होंने जो दुरंगी चालें चलीं उनके कारण एक बार नहीं कई बार उन पर धोखेबाजी का इल्जाम लगाया गया। उनकी ईमानदारी पर शक किया गया, उनकी वफादारी पर भरोसा नहीं रहा। वह खुद भी बड़े शक्की मिजाज के थे और उन्होंने कितने ही भेदिये लगा रखे थे जो बाजारों की गप्पों तक को रोज उन तक पहुंचाते रहते थे। वे यह मानते थे कि दोस्ती का ढोंग रच कर भी अपने दुश्मन को नुकसान पहुंचाना चाहिए, और अपनी इस मान्यता पर वह अमल भी करते थे।

रहीम का पारिवारिक जीवन कभी सुखी नहीं रहा। उनके सभी बेटों की, और उनकी खास बेगम मह बानू की भी, उनके जीवित रहते ही मृत्यु हो गई थी। उनकी लड़कियां भरी जवानी में ही विधवा हो गई थीं। नियति का यह एक क्रूर व्यंग ही था कि इतने उदार व्यक्ति को इतनी बड़ी चोटें झेलनी पड़ीं।

अपने युग के सेनापतियों में रहीम का स्थान बिल्कुल पहली ही पंक्ति में है। वह मानों जन्मजात सेनापति थे, और अकबर के संरक्षण में उन्होंने युद्धकला की जो पहली दीक्षा ली थी उससे उनकी प्रतिभा और भी निखर गई थी। मुगल सम्राटों की लम्बी परम्परा में जिसे सबसे बड़े विजेता का यश प्राप्त हुआ उसी के सूत्र संचालन में उन्होंने, गुजरात के युद्धक्षेत्र में, युद्ध-नीति और सामरिक दांव-पेंचों की शिक्षा प्राप्त की थी, और बाद को वह बराबर उनके काम आई। मुजफ्फर गुजराती, मिर्जा जानी और अबी-सीनिया-निवासी सुहैल खां पर उन्हें जो विजय मिलीं उनसे उनकी अद्‌भुत युद्ध-नीति का, दांव-पेंचों की अचूक कला का और प्रचुर संगठन-सामर्थ्य का पक्का प्रमाण मिलता है। दुश्मन को मौका न देकर खुद ही पहल करने की उनकी चतुराई और उनकी सूझबूझ भी कम सराहनीय नहीं थी। गुजरात में उनके मातहत उन कप्तानों ने भी, जिनकी दाढ़ियों के बाल सफेद होने लगे थे और जो उस नौजवान छोकरे को कुछ भी न समझ उसके रास्ते में अड़ंगे पर अड़ंगे लगाते जा रहे थे, मात खा ली थी, और

उसे उसके दृढ़ निश्चयों से डिगा नहीं सके थे। मिर्जा जानी जैसे जबर्दस्त दुश्मन को भी, जो लम्बे वक्त तक शाही मुगल फौजों के छक्के छुड़ाता रहा था, उन्होंने अपनी सामरिक चालों से घुटने टेक देने के लिए ठीक ऐसे वक्त मजबूर कर दिया था जब कि वह उनके सिपाहियों के लिए रसद के सारे रास्ते बन्द कर उन्हें भूखों मार डालने के सपने देख रहा था। उनकी बहादुरी, हिम्मत और हौसला देख उनके सिपाहियों के अन्दर ऐसा जोश आ जाता था कि आखिरी दम तक लड़ने और मर-मिटने को वह तैयार हो जाते थे।

दक्खिनी मोरचे पर बड़े से बड़े सेनापतियों की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई थी। अब्दुर्रहीम अकेला सेनापति था जो मुगल साम्राज्य की सरहदों को सुरक्षित रख पाया। रहीम की दूरदर्शी योजनाओं और उन पर ठीक ठीक अमल होने की बदौलत ही अकबर के राज्य काल में दक्षिणी राज्यों पर मुगलों का आंशिक अधिकार हो सका था। लड़ाई के दौरान उनके दांव-पेंच कितने ज़बर्दस्त होते थे, इसका प्रमाण आष्ठी की लड़ाई से मिलता है जहां दुश्मन की कहीं बड़ी संख्या और उसके कहीं-ज्यादा अच्छे तोपखाने के बावजूद जीत उन्हीं की हुई। जहांगीर के राज्यकाल में उनके अमीरों में एक खानखाना ही थे जो मलिक अम्बर को काबू कर सके। अबीसीनिया-निवासी उस सुलतान की आक्रमण-नीति तभी सफल हो पाई जब खानखाना वहां नहीं रहे।

अपनी सेना के सिपाहियों का खानखाना बेहद खयाल रखते थे। उन्हें आराम देने के लिए वह कुछ भी उठा नहीं रखते थे। और, लड़ाई में जीत होने पर तो वह अपने खीमे की सारी चीजें उनके बीच बांट देते थे।

पर अब्दुर्रहीम के सेनापतित्व में वह खूबी नहीं थी जो उनके पिता में थी। दक्खिनी सीमा पर होने वाली उनकी पराजयों का आंशिक कारण था—उनका उतावलापन। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने सब-कुछ की बाजी लगाने को वह शायद ही कभी तैयार हो पाते थे। वीर राजपूतों से विपरीत, वह अपनी जान बचाने के लिए अपनी प्रतिष्ठा की भी परवा

नहीं करते थे। अपने सारे साधनों को एक साथ काम में ले आना उनके लिए असंभव था। खास तौर से अपनी जिन्दगी के अन्तिम काल में तो उन्होंने उस प्रचण्डता और दृढ़ता के साथ कोई काम नहीं किया जिसके कारण गुजरात, सिन्ध और दक्खिन में उनकी जीत होती गई थीं।

अब्दुर्रहीम बहादुर होते हुए भी योद्धा से अधिक कूटनीतिज्ञ थे। उनकी सफल कूटनीति गुजरात और सिन्ध में जितनी दिखाई दी उससे भी कहीं ज्यादा वह दक्खिन की सीमा पर चमकी। दक्खिन की लड़ाइयों की बिल्कुल ही शुरूआत में उन्होंने राजा अली खां को अपनी ओर फोड़ लिया। वह मित्रता अपरिहार्य सिद्ध हुई, और वह राजा खानखाना का ऐसा भक्त हो गया कि आखिरी दम तक उसने पूरी तरह उनका साथ दिया। चांद बीबी को मुगलों से सुलह करने के लिए जो मजबूर होना पड़ा, उसके पीछे भी, अन्य कारणों के अलावा, खानखाना की कूटनीतिक चाल ही थी। वह अच्छी तरह समझ गए थे कि उनके अपने और मुगल साम्राज्य के भी हित में यही था कि दक्खिन की परस्पर-विरोधी विभिन्न शक्तियों के साथ चालाकी और होशियारी से काम लिया जाए। इसलिए एक-दूसरे के विरोधी दक्खिनी सुलतानों के बीच उन्होंने शक्ति-सन्तुलन कायम रखा। अगर औरंगजेब को भी रहीम की कोटि के सेनापति मिले होते तो दक्खिन में मुगल साम्राज्य की कब्र न खुदने पाती।

ईर्ष्यालु और मतलबी सहयोगियों और मातहतों के साथ अब्दुर्रहीम जिस होशियारी के साथ पेश आते थे वह सचमुच ही आश्चर्यजनक थी। जिन दो शाहजादों के मातहत उन्होंने दक्खिन में काम किया वे पूरी तरह उनके हाथ में थे। यहां तक कि शाहजादा खुर्रम भी, जिसे बहुत कुछ रहीम की ही बदौलत दक्खिन में असाधारण सफलता मिली, आसानी से उनकी राय के खिलाफ नहीं जा सकता था। उनकी धूर्त्तता के कारण अबुल फजल की भी दक्खिन में दाल नहीं गल पाई। रहीम की कूटनीतिक सफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि दक्खिनी कमान पर बार-बार उन्हीं की नियुक्ति हुई। एक के बाद एक, कितने ही इल्जाम उन पर लगाए

गए, पर जब-जब वह वहां से हटा लिए गए तभी तब दक्खिन में मुगलों को लेने के देने पड़ गए। एक रहीम ही थे जो मुगलों की गई हुई प्रतिष्ठा को बार-बार ऊंचा उठाते थे। यहां तक कि खान जहान लोदी, राजा मानसिंह और महावत खां जैसे धुरंधर सेनापति भी उनके सामने नहीं ठहरते थे। उनकी कूटनीति के आगे उनके जमाने के सभी लोग दांतों तले उंगली दबाते थे।

धार्मिकता को संकीर्ण अर्थ में लिया जाए, तो अब्दुर्रहीम धार्मिक पुरुष नहीं थे। वह अपने देश के सभी मतों और धर्मों का सम्मान करते थे। उन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं का गुण-गान किया, तुलसीदास और कबीर की तरह 'रामनाम' की महिमा गाई, ठीक सूरदास की ही भांति भगवान कृष्ण की भक्ति के रस में डूबे-उतराए, और गोहत्या का निषेध किया। पर इस्लाम के विरोधी भी वह कभी नहीं रहे। हज के लिए जाने वालों को मक्का शरीफ ले जाने और वापस लाने के लिए उन्होंने, पूरी तरह अपने ही खर्च पर, सूरत के बन्दरगाह में रहीमी, करीमी और सालारी, नाम के तीन जहाज ठीक कर दिए थे। बुरहानपुर के केन्द्र भाग में स्थित जुम्मा मसजिद तक उन्होंने चार मील दूर लालबाग से एक नहर खुदवा डाली थी, और वहां एक फव्वारा भी बनवा दिया था, ताकि नमाज पढ़ने वालों को वजू के लिए पानी मिल सके। इसलामी रहनुमाओं से मजहबी मामलों में वह सलाह ले लेते थे और कितने ही मुल्लाओं का उनकी मजहबपरस्ती पर पूरा यकीन था और वह उन्हें खत भी लिखते थे।

अपने मालिक अकबर की ही तरह, जिनकी नीति का उन्होंने जीवन के प्रायः हर क्षेत्र में अनुसरण किया, वह भी वास्तुकला के प्रेमी थे। जब वह मुश्किल से तीस साल के थे तभी उन्होंने सरखेज के नजदीक फतहबाग बनवाया। नए-नए बाग-बगीचे लगाने और खूबसूरत इमारतें बनवाने के रहीम के शौक का एक दूसरा नमूना बुरहानपुर के निकट का लालबाग है जो अब खंडहर मात्र रह गया है। बुरहानपुर की बस्ती बहुत ज्यादा घनी हो जाने पर उन्होंने उसके निकट ही अपने मालिक के नाम पर 'जहांगीर-

पुरा' नाम का एक नया कस्बा तैयार किया था। वहां उन्होंने जो बड़े-बड़े और सुसज्जित गुसलखाने बनवाए थे उन्हें देख कर उनके वक्त के दूसरे 'अमीरों' ने भी अपने गुसलखाने बनवाने शुरू कर दिए थे। दिल्ली, लाहौर अहमदाबाद और बुरहानपुर में अभी भी उन इमारतों के खंडहर देखने को मिलते हैं जो उनको बनाने वालों की यादगार की तरह हैं।

अन्य ललित कलाओं का भी अब्दुर्रहीम को शौक था। चित्रकारों और गवैयों को भी वह पुरस्कार देते थे। बदायवीं का कहना है कि गवैयों की मीठी तान कान में पड़ते ही रहीम का कवि-हृदय द्रवित हो उठता था। करुण रस की राग-रागिनी तो अकसर उनकी आंखों को गीला करके छोड़ती थीं। अपने शाही मालिक जहांगीर की ही तरह वह भी चित्रकला के अच्छे पारखी थे।

किन्तु रहीम के चरित्र की सबसे अद्भुत विशेषता तो यह थी कि उन्हें हिन्दी, हिन्दुओं और हिन्दुस्तान से प्यार था। उनकी मां तो मेवात के राजपूतों के एक ऐसे घराने की बेटी थीं ही जिसने धर्म परिवर्तन करके इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। इसलिए अपनी मातृभूमि और मातृ भाषा के लिए यह भक्ति उन्होंने मां से विरासत में पाई थी। हिन्दी के सन्त कवियों के सम्पर्क ने उनके हृदय में मुसलमानों द्वारा जीते गए इस देश की संस्कृति के प्रति आदर पैदा किया था। उनके लिए हर तरह से यही अपना देश रहा। राम और रहीम उनकी नज़र में एक ही थे। मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच उनके मन में कोई भेदभाव नहीं था। उनके दीर्घकालीन राजनैतिक जीवन में हमें एक भी तो ऐसी घटना नहीं मिलती जब उन्होंने किसी की भी धार्मिक भावना को चोट पहुंचाई हो। उनकी प्रकृति मानवोचित थी, और मानवता ही उनका धर्म था। उनकी हिन्दी कविताओं ने तो उन्हें अमर ही बना दिया। अकबर की ही तरह वह भी पक्के भारतीय थे।

रहीम की कुछ चुनी हुई कविताएं

दोहावली

अरज गरज माने नहीं, रहिमन ए जन चारि।
रनियां, राजा, मांगता, काम आतुरी नारि ॥१॥

रहीम कहते हैं : ये चार प्रकार के लोग न तो मनाने से मानते हैं न कड़ाई से—रानी, राजा, भिखारी और कामातुर नारी।

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
रहिमन मूलहिं सींचिबो, फूलहिं फलहिं अघाय ॥२॥

एक को साधने से सब सध जाते हैं, एक साथ सब साधने की कोशिश करने पर सब चला जाता है। रहीम कहते हैं, मूल (जड़) को सींचने से फल और फूल सभी पूरी तरह मिलते हैं।

ओछौ काम बड़े करैं, तौ न बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमंत को, गिरिधर कहै न कोय ॥३॥

साधारण लोग कितना भी बड़ा काम करें, उन्हें बड़ाई नहीं मिलती। हनुमान को कोई गिरिधर नहीं कहता (गोवर्द्धन पर्वत को कृष्ण ने उठाया तो वह गिरिधर कहलाए, पर हनुमान जब पहाड़ उठा लाए तो उन्हें यह नाम नहीं मिला)।

कहि रहीम धन बढ़ि घटे, जात धनिक की बात।
घटे बढ़े उनका कहा, घास बेचि जे खात ॥४॥

रहीम कहते हैं : बढ़ा हुआ धन घट जाने पर धनिकों की ही बात जाती है। जो घास बेच कर खाते हैं उनके पास घटने-बढ़ने का क्या है ?

कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे, तेई सांचे मीत ॥५॥

रहीम कहते हैं : सम्पत्ति के रहते तो बहुतेरे बहुत तरह से सगे बन जाते हैं; सच्चे मित्र तो वही हैं जो विपत्ति की कसौटी पर कसे जा चुके हैं।

कहु रहीम कैसे बने, बेर केर को संग।
ये डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग ॥६॥

रहीम पूछते हैं : वेर और केले का संग कैसे अच्छा हो सकता है ? अपने रस के आनन्द में मतवाला होकर जब यह (कांटेदार डालियां लिए) झूमता है तब उस बेचारे (केले के चिकने बड़े-बड़े पत्तों) का अंग-प्रत्यंग फटने लगता है।

काकी महिमा नहिं घटी, पर घर गए रहीम।
धाय समानी उदधि में, गंग नाम भयो धीम ॥७॥

रहीम कहते हैं : दूसरे के घर जाने पर भला किसका बड़प्पन नहीं घटता ? गंगा भी जब समुद्र के पास दौड़ी गई और उसमें समा गई तब उसका पवित्र नाम भी धीमा पड़ गया।

काज परे कछु और है, काज सरे कछु और।
रहिमन भंवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥८॥

काम पड़ने पर जो कद्र होती है वह काम पूरा हो जाने पर नहीं रह जाती। रहीम कहते हैं : विवाह की भांवरें पड़ जाने के बाद (दुलहे के) मौर को भी नदी में बहा दिया जाता है।

गरज आपनी आप सो, रहिमन कही न जाय।
जैसे कुल की कुलवधू, पर घर जात लजाय ॥९॥

रहीम कहते हैं : अपनी गरज अपने आप किसी से नहीं कही जाती; जिस तरह कुलीन घर की कुलवधू दूसरों के घर जाते लजाती है।

चाह गई चिंता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, वे साहन के साह ॥१०॥

जब कोई चाह नहीं रही तब सारी चिन्ता खत्म हुई और मन निश्चिन्त हो गया। जिन्हें कुछ भी नहीं चाहिए वे तो शाहों के भी शाह हैं।

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥११॥

रहीम कहते हैं : जो उत्तम प्रकृति के लोग होते हैं उन पर कुसंग का

कोई असर नहीं पड़ता। चन्दन के वृक्ष पर सांपों के लिपटे रहने पर भी उस पर विष नहीं चढ़ता।

तरुवर फल नहिं खात है, सरवर पियत न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति संचहिं सुजान ॥१२॥

वृक्ष (अपने) फल नहीं खाते, और न सरोवर (अपना) पानी पीते हैं। रहीम कहते हैं कि ज्ञानी लोग परहित के लिए ही सम्पत्ति संचित करते हैं।

तासों ही कछु पाइये, कीजे जाकी आस।
रीते सरवर पर गए, कैसे बुझे पियास ॥१३॥

उसी से कुछ पाओगे जिससे आशा की जा सकती हो। रीते (खाली) सरोवर पर जाने से प्यास कैसे बुझेगी ?

दीन सबन कौ लखत है, दीनहिं लखे न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखत, दीनबंधु सम होय ॥१४॥

गरीब सबको देखता है, पर गरीब को कोई नहीं देखता। रहीम कहते हैं कि अगर कोई गरीब को देखे तो वह दीनबंधु (भगवान) सा हो जाए।

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥१५॥

रहीम कहते हैं : धन्य है कीचड़ का जल जिसे छोटे-छोटे जीव अघा कर (तृप्ति के साथ) पीते हैं। समुद्र बड़ा है तो क्या हुआ, जब सारा जगत (उसके पास आने पर) प्यासा ही लौट जाता है।

नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन।
मीठा भावे लौन पर, अरु मीठे पर लौन ॥१६॥

नयन सलोने (सुन्दर या नमकीन) हैं और अधर में मधु है। रहीम पूछते हैं कि इनमें कौन किससे घट कर है ? नमकीन पर मीठा अच्छा लगता है, और मीठे पर नमकीन।

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भए, हमकौ पूछत कौन ॥१७॥

रहीम के मन में आता है : पावस (वर्षा) देख कर कोयल मौन साध लेती

है। (सोचती है कि) अब तो मेंढ़क वक्ता हो गए हैं, तो फिर हमको कौन पूछेगा ?

बड़े पेट के भरन को, है रहीम दुख बाढ़ि।
यातें हाथी हहरि कै, दयो दांत द्वै काढ़ि ॥१८॥

रहीम कहते हैं : बड़े पेट को भरने के लिए बड़ा दुःख उठाना पड़ता है—यही देख कर हाथी ने मानो घबड़ा कर अपने दोनों दांत बाहर निकाल दिए।

बड़े बड़ाई ना करें, बड़ो न बोलें बोल।
रहिमन हीरा कब कहै, लाख टका है मोल ॥१९॥

जो बड़े हैं वे न (अपनी) बड़ाई करते हैं और न बड़ी-बड़ी बात करते हैं। रहीम कहते हैं, हीरा कब कहता है कि उसका लाख टका का मूल्य है ?

बिगरी बात बने नहीं, लाख करो किन कोय।
रहिमन बिगरे दूध को, मथे न माखन होय ॥२०॥

बात बिगड़ जाने पर कोई लाख उपाय करे, वह फिर बनती नहीं। रहीम कहते हैं : दूध बिगड़ जाने पर उसे मथने से मक्खन नहीं निकलता।

बरवै

जबतें बिछुरे मितवा, कछु कस चैन।
रहत भरयो हिय सांसन, आंसुन नैन ॥२१॥

मेरे मीत (प्यारे) जब से बिछुड़ गए हैं तब से मुझे चैन कहां ? हृदय सांसों से भरा रहता है और आंख आंसुओं से।

कैसे जावत कोऊ, दूर बसाय।
पल अन्तरहू सजनी, रह्यो न जाय ॥२२॥

कोई दूर जाकर कैसे बस जाता है ? पल भर के लिए भी अलग रहना सहा नहीं जाता, सजनी !

जबते मोहन बिछुरे, कछु सुधि नाहिं।
रहे प्रान परि पलकनि, दृग मग माहिं ॥२३॥

जब से मोहन बिछुड़े हैं, हमें कुछ भी सुध नहीं है। प्राण पलकों में पड़े हैं और आंखें रास्ते पर।

सबै कहत हरि बिछुरे, उर धर धीर।
बौरी बांझ न जानै, ब्यावर पीर ॥२४॥

हरि से विछुड़ने पर सभी (मुझसे) कह रहे हैं कि हृदय में धैर्य रखूं। पगली बांझ क्या जाने कि बच्चा बियाने वाली की पीड़ा क्या होती है।

बालम अस मन मिलयउं, जस पय पानि।
हंसनि भइल सवतिया, लइ बिलगानि ॥२५॥

मैंने अपने बालम के साथ अपना मन दूध और पानी की तरह मिला दिया, पर मेरी सौत ने हंसिनी की तरह अलग-अलग कर दिया।

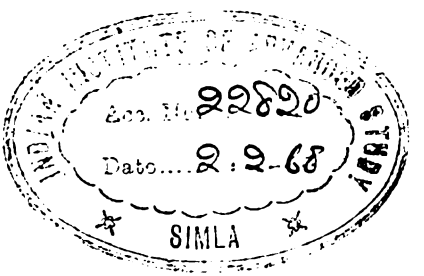
Acc. No. 22820
Date.... 2-2-68
SIMLA

डॉ० समर बहादुर सिंह खडगवासले, पूना में स्थित नेशनल डिफेंस अकादेमी में पहले संगीत के और बाद को इतिहास के अध्यापक रहे और अब वह आकाशवाणी के एक निदेशक हैं। वह संगीत और इतिहास के विशिष्ट छात्र रहे और बराबर इतिहास तथा संगीत पर लिखते रहे।

उन्होंने पी० एच० डी० के लिए रहीम पर शोध-प्रबन्ध लिखा। इस पुस्तक में उन्होंने प्राप्त मौलिक सामग्री के आधार पर रहीम की प्रामाणिक तथा सन्तुलित जीवनी प्रस्तुत की है, जिसमें राजनीति तथा साहित्य में रहीम का दान क्या था, वह बताया गया है।

Library IIAS, Shimla
H 811.22 R 129 S
00022820